वर्ष 11 अंक 1 जनवरी 1997

उन्मीलन

हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण, रा. प्र. पांडेय,
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

वर्ष 11 अंक 1 जनवरी, 1997

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

संपादक-सहयोगी

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे** 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. **दयाकृष्ण,** बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एफ 3/2, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल - 462002
4. **अशोक वाजपेयी,** सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर - 302015
2. **डॉ. मुकुन्द लाठ,** ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसन मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर में टंकित तथा **प्रिन्टवैल पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स**, जयपुर में मुद्रित

विषय-सूची

1. धर्म-संकट	मुकुन्द लाठ	1
2. साहित्य और संस्कृति	यशदेव शल्य	29
3. 'साहित्य और संस्कृति' पर उन्मीलन-गोष्ठी	विषयप्रवर्त्तक–यशदेव शल्य	41
4. 'साहित्य और संस्कृति' : शल्य-चिन्तन के भीतर से एक प्रश्न	मुकुन्द लाठ	46
5. शल्य जी का संस्कृति और साहित्य विषयक दृष्टिकोण : एक साहित्यिक प्रतिक्रिया	रमेशचन्द्र शाह	52
6. भाषा, साहित्य और संस्कृति	सिद्धेश्वर प्रसाद	61
7. उन्मीलन-गोष्ठी-2 – विषय : परतत्त्वों का ज्ञान	विषयप्रवर्त्तक–गोविन्दचन्द्र पांडे	66
8. न्याय-मंजरी : अनुवाद	शशिप्रभा कुमार तथा सिद्धेश्वर भट्ट	69

पुरोवाक्

प्रयोगधर्मी साहित्य व चिंतन की पत्रिका

(सर्जना-लोक का तितीर्षु)

संपादक : पीयूष दईया

विश्राम कुटी, सहेली मार्ग, उदयपुर (राज.) 313001 (दूरभाष 523316)

आवरण — रामकुमार, भीतर के चित्र अखिलेश, सज्जा : मानवेन्द्र कुमार

साक्षात्कार : निर्मल वर्मा से कुलदीप सिंह, उपन्यासांश : कृष्ण बलदेव वैद

कविताएं : प्रभात त्रिपाठी, विनोद कुमार शुक्ल, अब्दुल बिस्मिल्लाह, गगन गिल, ज्योत्सना मिलन, तेजी ग्रोवर, उदयन वाजपेयी, चंपा वैद, रुस्तम, वीरेन्द्र दुबे।

गद्य : अशोक वाजपेयी, संपूर्ण नाटक : भानु भारती, कहानियां : जितेन्द्र कुमार, जयशंकर, विष्णु नागर

निबन्ध : श्रीराम वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, उदयन वाजपेयी, डायरी : निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह

समीक्षात्मक लेख : ज्योतिष जोशी, मालचंद तिवाड़ी, अनिरुद्ध सिंह उमर

तीसरा अंक : 'मृत्यु' पर केन्द्रित।

प्रवेशांक 50 रुपये : पृ. सं. 208

धर्म-संकट

मुकुंद लाठ

ए 37-38, विश्वमित्र मार्ग,

श्याम नगर, जयपुर-302006

बात फिर वहीं आकर ठहरी है जहाँ प्रश्न सत्य और आनृशंस्य के विरोध का है—धर्म के भीतर ही उभरता विरोध। आनृशंस्य को अहिंसा का—प्रवृत्तिमयी अहिंसा का—पर्याय कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध हमने कुछ भावों से जोड़ा—मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, परदुःख-दुःखित्व जैसे भावों से और इनको धर्म के परस्पर-भाव का बीज कहा।

पर भाव व्यष्टिनिष्ठ होता है। पिछले लेख के अन्त में जिस समस्या को उठा कर मैंने बात को समेटा था वह प्रश्न को व्यष्टि से हटा कर समष्टि की ओर ले जाती है। प्रश्न था, क्षेमदर्शी अगर राज्य चलाते तो व्यवस्था कैसी करते? और भी गहराई से पूछें तो व्यवस्था का धर्म क्या है?

व्यवस्था के धर्म को व्यष्टिनिष्ठ, भावनिष्ठ आनृशंस्य—या अहिंसा—से व्यावृत्त करने के लिए 'सत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। सत्य का सम्बन्ध दायित्व-बोध से है, न्याय से है, 'ऋत' से है—जो व्यवस्था के परम औचित्य की धारणा है। सत्य समष्टि-धर्म है।

एक प्रश्न उठ सकता है। व्यष्टि-निष्ठ आनृशंस्य का आधार हमने 'भाव' में ढूँढा। सत्य के वैसे किसी आधार की बात हो सकती है क्या, जिसके बोध का अनुरणन हम अपने भीतर भी पा सकें; या सत्य केवल नियम—विधि-निषेध—की शृंखला है जो ऊपर से हमें बाँधती है—'स्व-तन्त्र' नहीं रहने देती? व्यवस्था की ऐसी भी धारणाएँ हैं जहाँ विधि-विधान या तो ईश्वर-दत्त माने जाते हैं, या राज्य-तन्त्र द्वारा प्रदत्त। जहाँ व्यवस्था नीति का सहारा लेती है, जैसे साझेदारी के समझौता सिद्धान्त में, वहाँ व्यवस्था परार्थ में नहीं स्वार्थ में स्थित हो जाती है। बनिया-बुद्धि के अधीन।

ऊपर हमने अपने ही बोध में सत्य की ओर उन्मुख एक धर्म-संगत, परार्थ-प्राण प्रवणता या प्रवृत्ति की बात भी की है। दायित्व की। पर एक और अच्छा, एक और गहरा शब्द भी हम यहाँ प्रयोग में ला सकते हैं—जो अब बात का अन्त करते हुए हमें बात के आरम्भ तक भी ले जायेगा। शब्द है 'श्रद्धा'। अपने पहले ही लेख में मैंने श्रद्धा की बात की है। 'सत्य' के ही सम्बन्ध में की है। आपको याद होगा कि **जैमिनीय ब्राह्मण** के एक प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सच्चा यज्ञ—या यज्ञ का मर्म कहिए—श्रद्धा में सत्य की आहुति देना है। बात विचित्र सी लग सकती है। उलटी सी लग सकती है। प्रोफेसर दयाकृष्ण ने बातों बातों में प्रश्न उठाया भी था : श्रद्धा में सत्य की आहुति? क्या मानी?

'सत्य में श्रद्धा की आहुति' होना चाहिये। श्रद्धा सत्य का आधार नहीं हो सकती; सत्य को ही श्रद्धा का आधार होना चाहिए। आक्षेप उचित ही लगता है।

पर इस प्रयोग को विसंगत और प्राचीनों का निर्विचार कह कर टाल देना भी मुझे ठीक नहीं लगा। कुछ विमर्श किया, पुराने विचार के और सूत्रों को टटोला तो लगा कि बात वैसी अटपटी नहीं जैसी सुनते ही एकबारगी लग सकती है। बात गहरी है और गहराई से संधान चाहती है, और मैं समझता हूँ कि धर्म के प्रसंग में, और जिसे हम धर्म का सत्य या 'ऋत' कह रहे हैं उस प्रसंग में, बड़ी सार्थक है। याज्ञवल्क्य ने बात यज्ञ के प्रसंग में उठाई थी, और यज्ञ का प्रसंग धर्म जैसा प्रसंग ही है; वहाँ भी कर्म के अन्तरंग औचित्य की खोज जागती है।

विमर्श का प्रश्न होगा : श्रद्धा सत्य का आधार कैसे? किस अर्थ में? और यों दोनों का सम्बन्ध क्या? धर्म के प्रसंग में उसकी विशेष सार्थकता क्या? आगे विचार करता हूँ।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि जिसे मैं सत्य कह रहा हूँ उसका व्यष्टि रूप में अपने अन्दर बोध हमें दायित्व जैसे अनुभव में होता है। यह मैत्री जैसे भावों से भिन्न है, जिन्हें हमने आनृशंस्य से जोड़ा है। दायित्व-बोध का सत्य से सम्बन्ध देखने के लिए प्रतिज्ञा- पालन को लें। वचन 'रखने' की बात को। 'वचन' का यह प्रयोग, मैं समझता हूँ, उस 'सत्य' के स्वरूप की ओर कुछ इंगित करेगा जिस सत्य को हम यहाँ उभारना चाह रहे हैं।

सत्य-वचन कहना और वचन का सत्य रखना, इनमें स्पष्ट ही भेद है। पहले का सम्बन्ध किसी सामने खड़े, प्रदत्त, 'सिद्ध' सत्य से है, जो हमारे कहने में अनुकृत, अनूदित- सा होता है। हमारा कहना सत्य तब होता है जब उस सत् की ओर सही संकेत कर दे जो 'है'। और उसका उसी रूप में 'कथन' कर दे जैसा वह है। कथन का अपना ढाँचा, अपना स्वरूप, अपना विन्यास और व्याकरण, या मर्यादा कहिये, ये सत्य को किस रूप में शब्द देते हैं, यह प्रश्न और है, और यहाँ विचार का विषय नहीं।

एक बात स्पष्ट है। वचन रखना आदर्श है और इसलिए साध्य, जबकि सत्य के वचन का सम्बन्ध सिद्ध वस्तु से होता है। वचन रखना प्रयत्न की अपेक्षा रखता है और प्रयत्न संकल्प और निष्ठा की। यहाँ कहा जा सकता है कि हमने मैत्री आदि जिन भावों की चर्चा की है ये भी वास्तव में साध्य ही हैं। पर भाव के साध्य में और वचन के साध्य में एक भेद यह है कि भाव का साध्य जहाँ शील की, पर के प्रति सद्भाव की गहराई साधता है, वचन रखने की साधना यह है कि जो सत् नहीं है, 'सिद्ध' नहीं है, उसे सत् की, 'सिद्ध' की कोटि में ले आये।

इसीलिए वचन-पालन को सत्य का पालन भी कहा जाता है। वचनपालन का सम्बन्ध सत्य की 'कर्त्तव्यता' से है। ऐसा सत्य जिसे हमारा कर्म सत्य करता है। जो पहले से सत्य नहीं होता।

जो 'श्रद्धा' के रूप में रहता है। श्रद्धा उस सत्य को सत्य रखती है जो सत्य 'होना चाहिए'। यों तो जो 'है' उसके विषय में भी किसी अर्थ में श्रद्धा की बात की जा सकती है। इस अर्थ में श्रद्धा जिज्ञासा का वह भाव है जो खरेपन के साथ सत्य की ओर उन्मुख रहता है; मिथ्या के बहलावे में मोह में नहीं आ जाता, उसी को सत्य कहता है जो प्रामाणिक रूप से 'है'। निःसन्देह 'है'। ऐसे सत्य का सम्बन्ध ज्ञान से है, कर्म से नहीं। ज्ञान का सम्बन्ध विषय से होता है; और ज्ञान की श्रद्धा है कि विषय सचमुच 'है', उसका अपना स्वरूप है, जिसे प्रमाण-व्यापार आँक सकता है। यह भी कुछ सत्य को सत्य करने जैसी बात है।

पर जैसा कि मीमांसा बहुत पहले ही कह आई है, विषय का यह ज्ञान कर्म की इतिकर्त्तव्यता का—धर्म का—आधार नहीं हो सकता। प्रमाण-व्यापार में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपपत्तिमूलक तर्क ये आधार होते हैं। इनसे 'क्या है' का वचन क्या हो, इस दिशा में हम बढ़ सकते हैं। पर वचन रखना चाहिए, और क्या वचन रखना चाहिए, यह संधान इस ज्ञान की परिधि के बाहर है। यह धर्म का साध्य-सत्य है। यह सत्य उस तरह वस्तु-तन्त्र नहीं हो सकता जैसे ज्ञान का सत्य।

पर 'प्रामाणिकता' की माँग धर्म के सत्य की खोज में भी नहीं छूटती। कोरी कल्पना को हम यहाँ भी आधार नहीं बना सकते। प्रामाणिकता की माँग हमारे अन्तरंग की माँग है। मिथ्या न ज्ञान का लक्ष्य हो सकता है, न कर्म का। आपत्ति हो सकती है कि सत्य का सम्बन्ध हर हालत में 'है' के साथ ही होता है। जो सर्वथा 'है' की कोटि से बाहर हो, वह लाख करने से भी 'है' कैसे हो सकता है? इसीलिए मीमांसक—और दूसरे भी विचारक—एक गहरे अर्थ में धर्म को सिद्ध मानते हैं। मीमांसा के लिए धर्म क्या है, इसका प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान न हो कर शब्द है—वेद का शब्द—ऐसा शब्द जो धर्म क्या 'है' इसका वचन करता है।

पर मीमांसक की तरह धर्म का प्रमाण शब्द को मानने पर प्रश्न रह जाता है, हमारे साथ उसका सम्बन्ध क्या? क्या वह हमसे विलग कुछ है जो हम पर बाहर से उतरता है, या हमारा अपना कुछ है? विलग हो तो हमसे वास्ता क्या, हम उससे इनकार क्यों न करें? हम इनकार कर सकते हैं। करने में असमर्थ होते तो शब्द की भी आवश्यकता नहीं होती। लेकिन अगर वह हमारा अपना कुछ है तो शब्द हमारी ही किसी वृत्ति का 'वचन' हो सकता है और फिर शब्द विशेष नहीं वह वृत्ति ही जिज्ञास्य होनी चाहिए, 'प्रमाण' होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य ने उसी वृत्ति के लिए 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग किया है। उस पर ध्यान को ज़रा फिर से ले जायें। प्रसंग यज्ञ का है। कहना न होगा, यज्ञ कैसे हो इसका प्रमाण शब्द है—अर्थात् श्रुति। वही यज्ञ का विधि-विधान करती है। पर याज्ञवल्क्य उस दशा में यज्ञ की बात करते हैं जब विधि-विधान का पालन सम्भव ही नहीं। शब्द प्रमाण हो ही नहीं सकता। यज्ञ के लिए जो द्रव्य विहित या सम्भव हैं, वे उपलब्ध ही नहीं हैं फिर भी याज्ञवल्क्य यज्ञ करने की बात करते हैं, और तभी कहते हैं

कि श्रद्धा में सत्य की आहुति ही यज्ञ है। स्पष्ट ही यहाँ बात शब्द की नहीं, हमारी वृत्ति की है, जिसे वे श्रद्धा कह रहे हैं। वह नहीं हो तो यज्ञ की बात वृथा है। श्रद्धा के बिना यज्ञ की कोई भी शब्द-ग्रथित विधि, कि 'यों करो' 'यों न करो' निरर्थक ही होगी। श्रद्धा यज्ञ के बहिरंग अनुष्ठान का अन्तरंग है।

पर हमने 'है' और 'होना चाहिए' का जो भेद किया उसे श्रद्धा पर कैसे उतारेंगे? श्रद्धा भी तो 'है' ही कहलायेगी। वह सिद्ध ही है, सत् है, मिथ्या नहीं। वह हममें 'है'। यों वह सत्य है। उसके लिए 'होना चाहिए' तो नहीं कहा जा सकता। इसी बात को आगे भी पसारा दिया जा सकता है : धर्म के जिन 'तत्त्वों' की हम बात कर रहे हैं, अहिंसा, आनृशंस्य, उनके मूल में स्थित मैत्री, करुणा, अनुकम्पा ये भी तो 'हैं'—धर्म के तत्त्व हैं और इनके तत्त्व होने का अर्थ इनका 'सत्य' होना ही तो है; फिर यह सिद्ध-साध्य का अन्तर क्या? सत्य तो 'सिद्ध' ही ठहरता है 'साध्य' नहीं।

प्रश्न यहाँ 'है' और 'होना चाहिए' के सम्बन्ध का है। पर जैसी आपत्ति की हम चर्चा कर रहे हैं उसका आशय यह है कि सत्य की कोई भी बात 'है' की ही बात हो सकती है, 'होना चाहिए' की नहीं। आपत्ति 'होना चाहिए' को भी 'है' के ही रूप में देखना चाहती है और किसी मुद्रा से उसे 'है' में ही समो लेना चाहती है। पर ऐसा वाक्य लीजिए : 'है, पर नहीं होना चाहिए'। वाक्य सार्थक है तो 'है' और 'होना चाहिए' का भेद भी सार्थक है। आप यहाँ भी पैंतरा ले कर कह सकते हैं कि यह 'होना चाहिए' भी 'है'-गर्भित है। 'होना चाहिए' यहाँ ऐसा 'है' है जो हो सकता था—जिसके होने की उतनी ही सम्भावना थी जितनी उस 'है' की जो सचमुच है—इसलिए उसे 'है' की कोटि में ही रखना चाहिए। ऐसी बातें हों तो यही कहूँगा कि सच पूछिये तो 'है' का अर्थ क्या है, यह भी विचार की उलटबाँसी ही है। वैसी ही जैसी 'होना चाहिए' का अर्थ है। फिर है और होना चाहिए का सम्बन्ध तो पहेली बन ही जाता है। पर जो भी हो, विचार 'है' और 'होना चाहिए' में अभेद नहीं करता—भेद चाहे जैसे भी करे।

हमारी चेष्टा वास्तव में ज्ञान के सत्य और धर्म के सत्य में भेद करने की है। 'है' और 'होना चाहिए', 'सिद्ध' और 'साध्य' ये पद इसी प्रयोजन से उतारे गए हैं। भ्रम यहाँ 'सत्य' शब्द से 'खड़ा' होता है : ज्ञान और धर्म का भेद करते हुए भी हम दोनों के साथ एक ही शब्द 'सत्य' की बात कर रहे हैं। स्वाभाविक है कि शब्द का अर्थ भी एक ही समझ की ओर झुका ले जाये। प्रश्न हो सकता है कि हम दोनों के साथ 'सत्य' की ही बात क्यों कर रहे हैं? ज्ञान के लक्ष्य को अगर सत्य कहा जाता है तो धर्म के साध्य को भी हम 'सत्य' क्यों कहें? कारण हम देख चुके हैं। हमारा प्रयोग ही ऐसा करता है : प्रयोग ज्ञान और धर्म दोनों के 'सत्य' की बात करता है। अब हम चाहें तो उस प्रयोग को व्यामिश्र कह सकते हैं। पर 'सत्य' शब्द में एक गरिमा है और गरिमा ही नहीं, एक औचित्य का, 'प्रामाणिकता' का, 'तथता' का बोध है जो धर्म में उतना ही उद्दिष्ट होता है जितना ज्ञान में। इसीलिए 'सत्य' शब्द समीचीन है। 'होना चाहिए' और 'साध्य', ये प्रयोग

भेद साधने के लिए हैं। पर ये अपर्याप्त भी हैं। 'होना चाहिए' और 'साध्य' इतना भर कह देने से बात नहीं बनती। इसलिए एक और व्याकृति को लें। नीति और धर्म के भेद को लें। करने को नीति के साथ भी हम 'होना चाहिए' और 'साध्य' इन पदों का प्रयोग कर सकते हैं। पर क्या वहाँ 'सत्य' का प्रयोग भी कर सकते हैं? धर्म के 'होना चाहिए' का जो खरापन उसे नीति से अलग करता है वही सत्य है। अब नीति को 'है' में रखें या 'होना चाहिए' में रखें अहिंसा और प्रभव जैसा तत्त्व और मैत्री, करुणा जैसा भाव उसमें नहीं होता। ठीक तो यह कहना होगा कि उसमें यह भाव होना नहीं चाहिए, नहीं तो 'नीति' 'नीति' नहीं रहेगी, धर्म की ओर झुक रहेगी।

मैं समझता हूँ कि नीति का 'होना चाहिए' धर्म के 'होना चाहिए' से अधिक विनिश्चित, अधिक जानी-पहचानी 'वस्तु' है। नीति का सत्य—अगर 'सत्य' का प्रयोग हम ठीक भी समझें—तो यही है कि नीति में हम क्या चाहते हैं, हमारा लक्ष्य, निर्धारित सा होता है, तभी वहाँ उपाय प्रधान है, उपेय नहीं। धर्म का 'होना चाहिए' सचमुच एक आदर्श है : वह साध्य जो 'मेरा' नहीं 'सब' का है, विश्वजनीन है और इसीलिए सत्य। ऐसा साध्य जो हमारी खोज भी होता है; वह क्या हो, यह भी निरन्तर साध्य रहता है। वह क्या नहीं हो इस विषय में निश्चय कुछ अपेक्षया स्थिर हो भी, तो भी 'क्या हो', यह एक निरन्तर संधान ही रहता है। यों धर्म का 'सत्य' 'साध्य' है। नीति के साध्य को तो हम जो कुछ भी कहें, उसे 'सत्य' कहने में संकोच ही होता है।

धर्म के सत्य को हमारे पुरुषार्थ की जो वृत्ति साधती है वह श्रद्धा है। श्रद्धा सत्य का 'आधार' इस अर्थ में है कि धर्म के सत्य का श्रद्धा ही 'प्रमाण' है। वह श्रद्धा की भूमि पर ही खड़ा रहता है। यों श्रद्धा को हम ज्ञान-भिन्न पर ज्ञान-सदृश ही सत्य-संध कह सकते हैं।

क्या तात्पर्य? कुछ खुलासा करता हूँ। ज्ञान को हम जिज्ञासा का फल भी कह सकते हैं। जिज्ञासा वृत्ति है जो आत्म में रहती है। यह सकर्मक वृत्ति है। ज्ञान का आहरण इसका कर्म है। विमर्श, प्रमाण इसके व्यापार हैं। पर आत्म-संस्थ होते हुए भी यह वृत्ति विषय-मुख है। जिज्ञासा अपने को 'सफल' तब मानती है जब विषय उस पर उसी रूप में भासित हो जाये जो विषय का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है; वृत्ति का व्यापार, विमर्श इसमें आड़े नहीं आना चाहिए। यह जिज्ञासा का आदर्श है। कहाँ तक पूरा होता है; हो भी सकता है या नहीं, यह प्रश्न और है। पर जिज्ञासा अपने को वस्तु-तन्त्र रखना चाहती है। अपने स्वतन्त्र वृत्ति-भाव को सर्वथा तटस्थ रखना चाहती है। उसके 'है' को 'नहीं है' सा रखना चाहती है। पर इस वृत्ति पर भी विचार किया जा सकता है, इसके प्रति जिज्ञासा रखी जा सकती है, जैसा कि हम अभी कर रहे हैं और पा रहे हैं कि इस वृत्ति का भी एक आदर्श है : विषय के प्रति निष्काम, निःसंग, तटस्थ भाव। इस वृत्ति को हम 'बुद्धि' भी कह सकते हैं। नाम अनपहचाना नहीं होगा।

हम देख ही रहे हैं कि बुद्धि का भी एक आदर्श है। यह आदर्श तो वस्तु-तन्त्र नहीं कहला सकता, किसी 'सिद्ध' विषय से बँधा नहीं है। साध्य है। बुद्धि के इस आदर्श का आधार क्या? बुद्धि अगर तटस्थ विषयोन्मुख, वस्तु-तन्त्र वृत्ति है तो इस आदर्श का आधार बुद्धि को ही तो नहीं कहा जा सकता। पर हम कह सकते हैं कि निःसंग विषय-भाव बुद्धि की श्रद्धा है।

आपत्ति हो सकती है कि बुद्धि के आदर्श को बुद्धि में ही निहित, उसके अपने स्वरूप का अन्तरंग क्यों न मान लिया जाये? अलग से किसी श्रद्धा की बात क्या? बात मैं समझता हूँ यह है कि आदर्श की भूमि बुद्धि तक सीमित नहीं है। और भी आदर्श होते हैं, जैसे कर्म का आदर्श, जिसकी हम चर्चा कर ही रहे हैं। हमने बुद्धि का जो अर्थ लिया है—और जो अक्सर लिया ही जाता है—हम कर्म के आदर्श को या धर्म को उस बुद्धि में निहित तो नहीं मान सकते। क्योंकि हम देख आये हैं कि धर्म का संधान वस्तु-तन्त्र या सिद्ध विषय-मुखी संधान है ही नहीं। स्पष्ट ही इसका विषय से नहीं, विषयी से या आत्म से एकान्त सा सम्बन्ध है। मर्म का सम्बन्ध है।

या यों कहें कि उसमें बुद्धि से अधिक 'वृत्ति'-भाव है। आत्म-संस्थ होना ही उसकी पहचान है। वह विशुद्ध वृत्ति है। वस्तु-मुक्त, आदर्श-उन्मुख वृत्ति। इसलिए बुद्धि से भेद करना उचित है और करने के लिए उसे श्रद्धा कहना उचित ही ठहरता है। पर हमने कहा कि श्रद्धा भी सत्य-संध वृत्ति है। वह कर्म के सत्य का संधान करती है। निष्काम, निःसंग होना उसका भी आदर्श है। वह अपनी तरह से तटस्थ-भाव भी साधती है—जिसकी हम आगे चर्चा करेंगे। काँट जैसे कुछ लोग कहेंगे कि यह वृत्ति सत्य को जानने में बुद्धि से कहीं अधिक सक्षम है। बुद्धि के सत्य को—वस्तु को—अपने-आप में नहीं जाना जा सकता। वह बुद्धि-रंजित ही रहता है। उसका अपना स्वरूप बुद्धि-भिन्न, बुद्धि-विच्छिन्न ही रहता है। क्योंकि बुद्धि अपने 'आपे' से निकल कर वस्तु तक नहीं पहुँच सकती, जब कि धर्म का सत्य आत्म-संस्थ है, आत्म उसे अपने भीतर ही पा सकता है। उसकी 'प्रामाणिकता' घनिष्ठ है। अपनी ही प्रामाणिकता है।

बुद्धि के पक्ष में बात को यों रखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि एक ओर बुद्धि और उसका प्रमाण-व्यापार और दूसरी ओर प्रमेय-बुद्धि के ज्ञेय, विषय, 'वस्तु'—इन दोनों में एक अयुत-सिद्ध भाव है, ऐसा कि दोनों की युगनद्ध सत्ता है। ये अलग नहीं हो सकते। तभी हम यह कहने में समर्थ हो पाते हैं कि हम 'जानते' हैं। नहीं तो बुद्धि-व्यापार एक खोखला शब्द भर रह जायेगा, और हमारा ज्ञान-ध्यान सब कुछ निरी भ्रान्ति का पसारा। जिस सत्य के बारे में यह कहा जाये कि 'जाना नहीं जा सकता' उसका यह 'होना'—या सत्य—यह भी तो बुद्धि-सापेक्ष ही है।

ज्ञान-वृत्ति और ज्ञान के सत्य को कहीं मूल में युगनद्ध न मानें तो सत्य की बात वृथा है। इसे बुद्धि की श्रद्धा इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि इसके लिए आत्मबोध के सिवा कोई प्रमाण नहीं हो सकता। यह बुद्धि कर्म की श्रद्धा है जो जिज्ञासा और ज्ञान-व्यापार

को सार्थक मान कर चलती है, वस्तु-जगत् और उसकी व्यवस्था को गोचर समझती है। वस्तु-जगत् के ज्ञान का जो प्रत्यक्ष-आश्रित बुद्धि-व्यापार है, उसे कोरी कल्पना के आतंक से श्रद्धा ही बचाती है। प्रत्यक्ष को वस्तु-सत् का ग्रहण होता है, यह बात श्रद्धा की ही हो सकती है। प्रत्यक्ष को 'ज्ञान' नहीं होता और बुद्धि-व्यापार में प्रत्यक्ष का ग्रहण विकृत हो जाता है। फिर श्रद्धा न हो तो कल्पना ही हाथ रह जाती है। बौद्ध चिन्तन में यह बात बड़े तीखेपन के साथ उभर कर आती है। पर सच पूछें तो बौद्ध जिस सत्य का संधान करते हैं—चाहे उसे 'सत्य' कहें या संबोधि—वह प्रत्यक्ष और बुद्धि के विकल्प-व्यापार, दोनों से परे है। उसे प्रज्ञा-ग्राह्य कहा जा सकता है। प्रज्ञा श्रद्धा जैसा ही आत्म-व्यापार है जो ज्ञान-उन्मुख है।

इस विवेचना से हम जो द्वार खोलना चाहते हैं वह यह है कि सत्य को हम उसे ग्रहण करने वाली वृत्ति की दृष्टि से भी देख सकते हैं। सत्य वह होता है जो वह वृत्ति 'देखती' है। अपने खरेपन में, औचित्य की लौ में देखती है। यह खरापन साध्य होता है। इसी अर्थ में बुद्धि में यह श्रद्धा है कि उससे भिन्न कोई सत्य है, जो उसका विषय है, जिज्ञास्य है और जिसे वह पा सकती है। यह श्रद्धा न हो तो बुद्धि-व्यापार तुच्छ, निःसार ही ठहरेगा।

हम कर्म के क्षेत्र में जिस श्रद्धा की बात कर रहे हैं वह बुद्धि से अधिक आत्म या विषयी-प्रधान है, इसलिए जो श्रद्धा ग्रहण करे वह सत्य है।

कर्म की श्रद्धा के सत्य को 'ऋत' भी कह सकते हैं। वह व्यवस्था का सत् है। बुद्धि के सत् की तरह ही वह न कल्पना मात्र है न व्यष्टि की इच्छा या अहंकार में निष्ठ। वह करने का सत्य है, पर सबके करने का सत्य, सार्वजनीन सत्य। दिये हुए वचन को सत्य करना इसका एक उदाहरण है। इसमें ऋत के प्रति हमारी श्रद्धा का संकेत है।

साथ ही श्रद्धा के सत्य में हम 'है' और 'होना चाहिए' का एक सम्पुट भी देख सकते हैं। हमारा होना 'होना चाहिये' ही रहता है; यही बात **गीता** में यों आई है : 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—यह पुरुष श्रद्धामय 'है'; वह वही है जो उसकी श्रद्धा 'है'।

कृष्ण का यह कथन 17वें अध्याय का तीसरा श्लोक है। जिस प्रसंग में आया है वह भी देखने लायक है। 16वें अध्याय के अन्त में कृष्ण मनुष्य के आचरण के लिए शास्त्र-विधि को प्रमाण बताते हैं—इच्छा का—'कामकार' का—निराकरण करते हैं। शास्त्र-विधि के आचरण की नाभि में यज्ञ है। कृष्ण यज्ञ को एक व्यापक अर्थ में लेकर उसे सम्पूर्ण जीवन से, कर्ममात्र से जोड़ते हैं। 17वें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन प्रश्न करते हैं कि क्या शास्त्र-विधि के बिना भी कर्म-रूपी यज्ञ का औचित्य बन सकता है या नहीं? जो शास्त्र को छोड़ कर भी श्रद्धा से यजन करते हैं उनकी निष्ठा क्या है, सात्त्विक, राजसिक या तामसिक? उत्तर में कृष्ण श्रद्धा को स्वभावजात—मनुष्य में सहज—कहते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि स्वभाव ही तीन प्रकार का होता है, सात्त्विक, राजसिक, तामसिक। स्वभाव के अनुरूप श्रद्धा होती है, क्योंकि पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही

वह होता है। स्वभाव और उसके तीन प्रकार—सात्त्विक, राजसिक, तामसिक—यह बात अपने आप में विमर्श चाहती है, पर इसे हम यहाँ अलग ही रख देते हैं। पर स्वभाव का सत्त्व, रजस्, तमस् जो भी हो, इतना तो कृष्ण की बात के पीछे उभर ही रहा है कि वे आचरण और कर्म का बीज शास्त्र को नहीं स्वभावजा श्रद्धा को मानते हैं। शास्त्र तो इस दृष्टि में श्रद्धा ही की उपज हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि श्रद्धा का यहाँ सम्बन्ध 'है' और 'होना चाहिए' दोनों से है—कर्म के साथ श्रद्धा का और सम्बन्ध हो भी क्या सकता है?

गीता के इस प्रसङ्ग में श्रद्धा एक वृत्ति के रूप में तो उभरती है पर उसका धर्म से सम्बन्ध संदिग्ध सा है—श्रद्धा राजसिक या तामसिक हो तो स्पष्ट है वह अधर्ममयी भी हो सकती है। तामसिक श्रद्धा को कृष्ण दम्भ, अहंकार और काम से जोड़ते हैं। लगता है कृष्ण 'श्रद्धा' के पुराने अर्थ को एक अपना सा विशिष्ट मोड़ दे रहे हैं। उनका अर्थ हमारे अभिप्रेत अर्थ से भिन्न है। हम यहाँ श्रद्धा को इच्छा या काम से व्यावृत्त वृत्ति के रूप में आँकना चाहते हैं। पुराना प्रयोग मैं समझता हूँ यही था। याज्ञवल्क्य का प्रयोग हम देख ही चुके हैं। **गीता** से पुराना एक और प्रयोग देखिये। **कठोपनिषद्** का प्रयोग, जो काल की दृष्टि से **जैमिनीय ब्राह्मण** के अधिक निकट है। प्रयोग **कठ** के आरम्भ में ही मिल जायेगा। नचिकेता की प्रसिद्ध कथा में।

नचिकेता के पिता ने यज्ञ किया और यज्ञ के आदर्श और विधान के अनुसार अपना सब कुछ दान में देने का संकल्प लिया। पर 'सब कुछ' के नाम पर उन्होंने जो दिया, वह 'कुछ नहीं' था : बूढ़ी गायें थीं, जिनका दूध उतर चुका था, जो कुछ ही दिन की मेहमान रह गई थीं। यज्ञ के संकल्प में जो प्रतिज्ञा की गई थी—या ऊह्य थी (कहानी में यह स्पष्ट नहीं)—वह थी कि सब कुछ दूँगा। बूढ़ी गायें पकड़ा देना, प्रतिज्ञा का—वचन का—भंग था। छल था—हालांकि अनुष्ठान-कार्य के साधारण व्यवहार में ऐसा होता ही रहा होगा, जैसा कि अब भी होता ही रहता है। अनुष्ठान के प्राण का रूढ़ि में निष्प्राण हो जाना और दान के परार्थ-भाव का स्वार्थ में ढल जाना, यह चिरन्तन-सी बात है। पर नचिकेता कुमार ही था, उसे बात चुभ गई। **उपनिषद्** कहता है कि जब दक्षिणा में न देने लायक गायें दान में दी जा रही थीं तो उसमें श्रद्धा आ समाई : तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश।

श्रद्धा का यहाँ वही मर्मार्थ है जो हमें अभिप्रेत है और जो याज्ञवल्क्य को अभिप्रेत था। पर यहाँ अर्थ और भी निशाने पर है। श्रद्धा यहाँ वह वृत्ति है जो वचन देती है, वचन रखती है। वचन के—संकल्प के—सत्य की ओर उन्मुख होती है। नचिकेता में श्रद्धा जागी तो उसने पिता से पूछा : 'मुझे किसको दोगे?' नचिकेता भी अपने पिता के थे, उनके स्वत्व थे। पुत्र को पिता की 'सम्पत्ति' मानना, यह कई धर्म-व्यवस्थाओं का अंग था ही।

आरम्भ की इस कथा के बाद **कठोपनिषद्** में फिर श्रद्धा की चर्चा नहीं है। पर इस कहानी से ही श्रद्धा का अर्थ स्पष्ट है : 'कर्म का सत्य'। शंकर ने श्रद्धा का अर्थ यहाँ 'आस्तिक्य बुद्धि' किया है। यह अर्थ उन्होंने **गीता** के 17वें अध्याय के पहले श्लोक पर टीका करते हुए किया है। 'आस्तिक्य बुद्धि' अर्थात् 'है' ऐसा बोध और निश्चय। आस्तिक उसे कहते थे जो वेद को प्रमाण मानते थे। उसे भी कहते थे जो किसी देव को या ईश्वर को मानता हो। शंकर के मन में यही अर्थ था। 'श्रद्धा' शंकर के लिए 'विश्वास' का पर्याय है। हम यहाँ जिस श्रद्धा की बात कर रहे हैं वह प्रकट ही 'विश्वास' से भिन्न है—श्रद्धा किसी अतीन्द्रिय सत्ता में 'है' के बोध का नाम नहीं है। धर्म के सत्य का बोध अतीन्द्रिय तो है; इन्द्रिय-गोचर और इन्द्रिय के आधार पर बुद्धि-गोचर सत्य से भिन्न भी है, पर बात किसी अतीन्द्रिय 'सत्ता' की नहीं है। अहिंसा का उदाहरण लीजिए। इन्द्रिय और बुद्धि का सत्य होगा : जीवो जीवस्य भोजनम्। अहिंसा का सत्य सर्वथा विपरीत है : मा हिंस्यात् सर्वभूतानि। यह किसी सत्ता में विश्वास नहीं है। एक विधान है। आदर्श है। श्रद्धा द्वारा ही दृष्ट, और श्रद्धा के ही रखने का सत्य है।

श्रद्धा के प्राचीन अर्थ की पुष्टि **ऋग्वेद** से भी हो जाती है। **ऋग्वेद** के दशम मण्डल का श्रद्धा-सूक्त प्रसिद्ध ही है। याज्ञवल्क्य की तरह यह सूक्त भी यज्ञ का मूल श्रद्धा को ही बताता है : श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः—यह सूक्त की पहली ही पंक्ति है। सायण ने यहाँ श्रद्धा का अर्थ 'चाह' किया है : पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धा। पर विश्वास ही की तरह 'अभिलाष' अर्थ भी ठीक नहीं है। अभिलाषा की बात यहाँ उठाने का एक कारण यह हो सकता है कि श्रद्धासूक्त श्रद्धा नाम की ऋषिका द्वारा दृष्ट कहा गया है, जिसे काम-गोत्र में उत्पन्न कामायनी भी कहा गया है। पर श्रद्धा 'चाह' नहीं है; 'साध' फिर भी कह सकते हैं। स्वयं सायण आगे उसे 'संकल्प' से जोड़ते हैं, जो उचित है। चौथे सूक्त में कहा गया है कि यज्ञ करते हुए देव भी श्रद्धा की ही उपासना करते हैं; हृदय की आकूति से श्रद्धा की उपासना करते हैं : श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते/श्रद्धां हृदय्याकूत्या...। सायण 'आकूति' पर कहते हैं कि हृदय की आकूति संकल्प-रूपी क्रिया है और सभी लोग उसी से श्रद्धा की उपासना करते हैं। दूसरा मन्त्र स्पष्ट ही श्रद्धा की भूमि पर धर्म को खड़ा देखता है : प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः—देने वाला श्रद्धा को प्रिय है, देने की साध रखने वाला श्रद्धा को प्रिय है। अन्त के चरण में सूक्त जो कहता है उससे यही ध्वनि निकलती है कि श्रद्धा एक स्वयंभू वृत्ति है : श्रद्धे श्रद्धापयेह नः—श्रद्धे, हमें यहाँ श्रद्धा में घर दो।

ऋग्वेद में श्रद्धा का 'अनुकम्पा' से भी सम्बन्ध दिख रहा है। यों इसे अहिंसानिष्ठ आनृशंस्य का सधर्मी भी कह सकते हैं। यों श्रद्धा को धर्ममात्र से जोड़ते हुए, व्यापक अर्थ में भी लिया जा सकता है। पर हमने एक भेद करना चाहा है : श्रद्धा को वचन रखने का दृष्टान्त लेते हुए 'सत्य' के साथ जोड़ा है। आनृशंस्य के साथ नहीं।

धर्म के हमने जिन 'भाव'-मय आधारों की बात की : मैत्री, करुणा आदि, वचन रखना उनसे स्पष्ट ही भिन्न है। मैत्री करुणा दया आदि काम क्रोध द्वेष के सजातीय हैं। रस-प्रस्थान को सामने रखें तो ये सभी भाव—जो धर्म से जुड़ते हों या न जुड़ते हों—सभी 'स्थायी भाव' की कोटि में आ सकते हैं। ये मन की आवेगमयी, प्रवाहमयी अवस्थाएँ हैं। ये गतियाँ हैं : आती हैं, जाती हैं। एक गति की जगह दूसरी बिल्कुल उल्टी गति लेती रहती है। हमारा कर्म इन गतियों का शिकार होता ही है। कर्म का औचित्य या धर्म भाव-प्रवाह में बहती हुई नैया नहीं हो सकता। उसमें एक संकल्प होता है, एक निष्ठा। धर्म केवल मैत्री आदि नहीं, मैत्री आदि की साधना चाहता है।

यह बात हम कह भी आये हैं। पर यहाँ दुबारा उसकी चर्चा का उद्देश्य श्रद्धा के सत्य से उसका अन्तर देखना है। हमें धर्म में द्वैधीभाव दिख रहा है, हम उसके द्विस्वभाव को आँकने की चेष्टा कर रहे हैं। एक ओर अहिंसा, आनृशंस्य है, दूसरी ओर सत्य। एक ओर मैत्री, करुणा आदि भाव, दूसरी ओर वचन रखना। दायित्व बोध। पहला कोमल है, पर के लिए द्रवित, दूसरा निष्ठुर भी हो सकता है।

इस द्विस्वभाव-दृष्टि को आप अस्वीकार न भी करें तो भी एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है। श्रद्धा को हमने एक वृत्ति कहा। तो क्या हम मैत्री, करुणा आदि को किसी और सर्वथा भिन्न वृत्ति की प्रवृत्तियाँ कहना चाहेंगे? क्या हम धर्म के क्षेत्र को ही द्विधा बाँट देना चाहेंगे? मैं समझता हूँ यह खींचतान होगी। बिखराव होगा। यह ठीक है कि यहाँ चिन्तन को धकेल कर वृत्ति-द्वैध की ओर ले भी जाया जा सकता है। पर यह विषम सी ही बात होगी। अनहोनी। धर्म का क्षेत्र ही अगर द्विधा बँटा हो तो दोनों को धर्म कहना ही भ्रान्त हो जायेगा।

पर एक द्विधाभाव तो आड़े आता है। हम इसे धर्म का भाव-पक्ष और श्रद्धा-पक्ष या न्याय-पक्ष भी कह सकते हैं—'न्याय' कहने के औचित्य की अभी चर्चा करता हूँ—या अहिंसा और सत्य। दोनों को 'धर्म' के एक ही क्षेत्र में रखने का एक आधार यह है कि इन दोनों में हम एकसूत्रता भी देख सकते हैं, पर वैषम्य की गाँठ बनी रहती है, जो धर्म की धरती पर धर्मसंकट को भी बनाये रखती है।

धर्म को हमारे यहाँ धारक कहा गया है। धारक एक व्यवस्था है जिसके साथ 'सत्य' जैसा शब्द उचित है। पर धर्म का धारक-स्वरूप श्रद्धा में स्थित है—हमीं में स्थित है—इसलिए यह भी कहा गया है कि धर्म हमारा धारण तब करता है जब हम इसका धारण करते हैं : धर्मो रक्षति रक्षितः। आशय यह है कि व्यवस्था की नींव हमीं में है। इसे हम टिकाये रखते हैं। टिकाये रखने के पीछे जो यत्न है, निरन्तर संकल्पमयी प्रवृत्ति है—उसे भी श्रद्धा कह सकते हैं। ऋग्वेद का श्रद्धासूक्त भी यही कहता है।

इस प्रवृत्ति का भाव से स्पष्ट ही सम्बन्ध है। हम कहते हैं : अहिंसा परमो धर्मः। आशय यही होता है कि अहिंसा को सद्-व्यवस्था का आधार बनाना चाहिए, और इसके लिए श्रद्धा का शील जगाये रखना चाहिए। पर अहिंसा का आधार दया अनुकम्पा मैत्री

जैसा भाव ही है। भाव के बिना अहिंसा का अर्थ ही नहीं बनता। पर जब अहिंसा सत्य का आधार बनती है तो प्रण और दायित्व की बात हो जाती है : उसके पालन में व्रत-चर्या जैसा नियम-पालन उतर आता है। संकल्प-बुद्धि (या **गीता** के शब्दों में) व्यवसाय-बुद्धि की बात हो जाती है। या कहिये कि श्रद्धा की। यह अहिंसा को भाव से हटा कर 'तत्त्व' या सत्य बना देती है। भाव अहिंसा का बीज हो सकता है—मैत्री, अनुकम्पा, करुणा जैसे भाव के बिना उसकी कल्पना भी कठिन है—पर भाव पर व्यवस्था नहीं टिक सकती। भाव 'भावुक' बना दे सकता है। व्यवस्था में भावुकता का स्थान नहीं। भावुकता अहंलीन सी होती है, सत्य-संकल्प का आधार नहीं हो सकती। भावुकता का होना इस बात का इंगित होगा कि श्रद्धा में कहीं दोष है, भ्रान्ति है। पर दूसरी ओर भाव-निष्ठा का भी आधार हो सकता है और यों श्रद्धा का अंग।

दायित्व-बोध में हम इसे देख सकते हैं। दायित्व अहिंसा और आनृशंस्य को सत्य बनाये रखने का ही दायित्व है। इसमें एक ओर संकल्प है, दूसरी ओर इसमें जो परार्थ भाव है, मैत्री करुणा के बिना वह शून्य ही होगा। स्वार्थ में दायित्व की बात नहीं की जा सकती। हम अपने प्रति दायित्व की बात जब करते हैं तो जिस अपनेपन की बात करते हैं वह स्वार्थ का स्व नहीं होता, किसी उच्चतर 'सत्यतर' आत्म का अन्वेषण होता है। स्व ही हो तो 'दायित्व' कहना भ्रान्ति है। यों दायित्व में भाव और श्रद्धा का मेल देखा जा सकता है।

पर यह मेल कहीं अनमिल भी रह जाता है। अहिंसा को लीजिए। अहिंसा की धरती भूतदया, मैत्री, करुणा जैसे भाव हैं। अहिंसा श्रद्धा का सत्य हो जाये तो उसमें एक व्रत की सी प्रतिज्ञा आ पैठती है : 'मैं हिंसा नहीं करूँगा' यह केवल भाव की बात नहीं रह जाती। आत्मसंयम की, और यों एक नियम की बात हो जाती है। व्यवस्था की। मैं अपने लिए यह नियम बना लूँ तो 'स्व' तन्त्र हो कर पालने का, पुरुषार्थ के रूप में साधने का प्रयत्न करूँगा। न करूँ ने प्रायश्चित की—स्वदण्ड की—बात हो सकती है, और फिर अहिंसा व्यवस्था का अंग हो तो उसकी रक्षा में परदण्ड की और यों हिंसा की बात भी हो सकती है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है : हम भाव और श्रद्धा के मेल की बात कुछ इस आग्रह से कर रहे हैं मानो धर्म की धरती ही इस मेल से बनी हो। पर सच पूछिये तो भाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। सत्य का कर्त्तव्य ही धर्म है और उसमें भाव के लिए कोई स्थान नहीं है—ऐसा कई विचारकों ने कहा भी है और ठीक ही कहा है। 'हिंसा नहीं करनी चाहिए', यह वैसा ही नियम है जैसा 'सत्य बोलना चाहिए' और इस दूसरे नियम में भाव का कोई स्पर्श नहीं है। यह विशुद्ध नियम की बात है। धर्म में भाव की बात ही ठीक नहीं।

पर बात को यों भी सोचिये। 'सदा सच बोलूँगा' इतिकर्त्तव्यता का यह नियम दूसरे की अपेक्षा रखता है। 'बोलने' का अभिप्राय ही किसी और से कहना होता है। प्रतितर्क

किया जा सकता है कि प्रतिज्ञा अपने ही प्रति भी तो हो सकती है। आख़िर आदमी अपने-आप से भी तो झूठ बोलता है। अपने-आप को बहलाता, बहकाता है। फुसलाता है।

तो फिर प्रतिज्ञा का ठीक रूप होगा, 'वंचना नहीं करूँगा'। और सच बोलने का नियम सच पूछिये तो यही है कि झूठ नहीं बोलूँगा, झूठ वंचना है। इसका तात्पर्य क्या? सच बोलने का नियम कोई यन्त्र जैसा नियम तो है नहीं कि यन्त्र में चाभी भर दी कि बिना किसी भावमयी प्रवृत्ति के कम्प्यूटर की तरह चलता रहे। फिर इस प्रतिज्ञा का कोई अर्थ, कोई प्रयोजन ही नहीं होगा। कम्प्यूटर के लिए 'झूठ नहीं बोलूँगा'—क्या मानी? जबकि वह वंचना कर ही नहीं सकता। झूठ नहीं बोलने का तात्पर्य निष्कपट भाव से ही हो सकता है। अपने साथ भी निष्कपट होना साध्य होता है। पर धर्म में भाव का उद्देश्य 'पर' ही होता है। 'मैं परवंचना नहीं करूँगा'। क्योंकि वंचना परस्पर-भाव का बाध है। मैत्री का बाध।

यों धर्म का भाव-सम्बन्ध स्पष्ट है। और ऐसे भाव-सम्बन्ध के लिए विडम्बना है दण्ड, जो धर्म के नियम रूप में—धारक रूप में—निहित ही जान पड़ता है।

बात को थोड़ा गहरे पैठ कर यों भी देखिये। हमने पिछले लेख में धर्म के दो पक्षों की बात की थी : ऐक्य का पक्ष और अनैक्य का पक्ष। पहले को हमने व्यष्टि व्यष्टि के अभेद का और यों परस्पर-भाव का पक्ष कहा था, दूसरे को व्यवस्था का। कहा था कि मैत्री करुणा जैसे भाव परस्पर भाव के आधार हैं और व्यवस्था का आधार श्रद्धा और श्रद्धा के साथ जुड़े बोध जैसे दायित्व-बोध : प्रण-पालन, वचन रखना। अभी दोनों पक्षों में हमने सम्बन्ध के सूत्र भी उभारे। विरोध के भी विरोध की ट्रैजेडी को एक कहानी से उभारता हूँ :

कहानी **मार्कण्डेय पुराण** की है। **पुराण** के आरम्भ में ही आई है। राजा हरिश्चन्द्र की अति प्रसिद्ध कथा है। पर यहाँ जिस ढंग से, जिस अंग से कही गई है उसमें दायित्व-बोध और मैत्री करुणा जैसे परस्पर भाव की—दूसरे शब्दों में अहिंसा आनृशंस्य और सत्य के अन्तरंग वैषम्य की, गहरी ट्रैजेडी है।

राजा हरिश्चन्द्र आदर्श राजा थे। स्वभाव से धर्मशील और आनृशंस्य-प्राण : मैत्री, करुणा, अनुकम्पा उनमें सहज थे। इनमें निष्ठा उनका शील थी। एक बार वे आखेट के लिए वन में गये। मृग का पीछा कर रहे थे कि स्त्रियों के विलाप का करुण स्वर सुना। मृग को छोड़ कर उसी ओर दौड़े। हुंकार के स्वर में गरज उठे : 'कौन है जो मेरे होते अबला पर अन्याय कर रहा है?' यह कहते हुए राजा वहाँ पहुँचे जहाँ से क्रन्दन का स्वर उठ रहा था। राजा ने देखा कुछ स्त्रियाँ हताश खड़ी रो रही हैं। उनकी दीन दशा देखकर राजा विचलित होकर क्रोध के आवेश में आ गये। उबल कर बोले : 'कौन पापी मेरे रहते नीच कर्म कर रहा है, जानता नहीं कि आग से खेल रहा है? मेरे बाणों से छलनी होकर अभी अपने किये का फल पा जायेगा।'

रोनेवाली स्त्रियाँ मूर्तिमती विद्याएँ थीं, जिन्हें मुनि विश्वामित्र तपस्या की शक्ति से बलात् आत्मसात् करना चाह रहे थे। हरिश्चन्द्र को देख कर विश्वामित्र आग-बबूला हो गये। वे क्षमा मौन और चित्त-संयम से विद्याओं को साध रहे थे। पर इस अचानक आये विघ्न ने उन्हें आपे से बाहर कर दिया, क्षमा संयम मौन क्षण भर में बिखर कर रह गये। और मुनि में ज्यों ही क्रोध जागा विद्याएँ अन्तर्धान हो गईं। राजा स्त्रियों को बार बार 'मा भैः' 'डरो मत' कहे जा रहे थे। मुनि डपट कर बोले, 'ठहर जा, अभी तुझे देखता हूँ।' मुनि को देखा तो हरिश्चन्द्र ठिठक गए। भय से काँप उठे। मुनि को साष्टांग प्रणाम किया और सम्भ्रम के साथ बोले : 'भगवन्, यह मेरा धर्म है, मैं तो अपने धर्म की ही रक्षा कर रहा था, आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। दान, रक्षा, धर्मयुद्ध ये राजा के राजोचित धर्म हैं, इनका पालन मेरा कर्त्तव्य है। मैं कर्त्तव्य का ही पालन कर रहा था।'

कहानी में विश्वामित्र का क्रोध शान्त नहीं होता, कपट का रूप ले लेता है। और यहीं से कहानी में ट्रैजेडी का समावेश हो जाता है : निष्कपट राजा और सकपट विश्वामित्र। राजा के धर्म को ही विश्वामित्र राजा पर प्रहार का अस्त्र बना लेते हैं। जिस क्षमा से विद्या साध रहे थे, उसको बिल्कुल त्याग कर बड़ी निष्ठुर चतुराई से राजा के धर्म को ही प्रतिशोध का दण्ड बना लेते हैं। यह सम्भव दो बातों से होता है : राजा का सद्भाव और धर्म का द्वैधी भाव।

विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से पूछते हैं : 'यह बतलाओ हरिश्चन्द्र, राजा को दान किसे देना चाहिए, रक्षा किसकी करनी चाहिए और युद्ध किससे करना चाहिए?' राजा ने कहा : 'श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दान देना चाहिए; और ऐसे लोगों को भी दान देना चाहिए जिनकी जीविका हीन हो गई हो, जो ठीक से कमा-खा न पा रहे हों। रक्षा भयभीत की करनी चाहिए। और युद्ध आततायी शत्रु से।' विश्वामित्र ने कपट की गाँठ में बाँधते हुए कहा : 'राजा, मैं ब्राह्मण हूँ। गृहस्थ होना चाहता हूँ। गृहस्थ भाव का ठीक से भोग करना चाहता हूँ। जो मैं चाहूँ, तुम मुझे दान में दो।' मुनि के अभिप्राय में कौटिल्य था, जिसे राजा बिल्कुल नहीं भाँप पाये। उल्टे प्रसन्न हुए कि मुनि ने शाप भी नहीं दिया और वे तपस् में विघ्न डालने के अधर्म से भी बच जायेंगे। बोले, 'तपोधन, आप जो चाहें माँग लें; कितनी ही दुर्लभ वस्तु हो, यह समझें कि आपकी है। मेरा राज्य, मेरा धन, जीवन, स्त्री-पुत्र, कलेवर सब आपका है।' विश्वामित्र ने तुरन्त स्वीकार करते हुए कहा, 'ठीक है राजा, मैंने दान ग्रहण किया; पर एक बात और है, तुम जो सर्वस्व दान का कर्म कर रहे हो, राजसूय यज्ञ के समान है, इसकी दक्षिणा भी देनी होगी। बोलो दोगे?' विश्वामित्र ने बड़े नीति-कौशल से तोल कर बात कही थी। हरिश्चन्द्र ने सहज भाव से देने का प्रण किया। इस पर विश्वामित्र ने अपनी माँग आगे रखी। बोले : तुम्हारा शरीर, स्त्री और पुत्र इन्हें छोड़ कर और उस धर्म को छोड़ कर जो हरेक का अपना होता है, जाने वाले के साथ जाता है—इन सब को छोड़कर जो कुछ तुम्हारा है अब मेरा हो गया : तुम्हारा समूचा राज्य और जो कुछ भी इसमें है, सागर पर्यन्त यह धरा, नगर, जनपद, कोष, धन-धान्य अब मेरा है। राजा

ने निर्विकार भाव से तत्काल सब कुछ दान में दे दिया। सहर्ष कहा 'तथास्तु'। 'तथास्तु' के साथ ही विश्वामित्र के मन का चोर आगे आ गया। बोले, तो राजा, अब राज्य का स्वामी कौन है? राज्य पर प्रभुत्व किसका है? तुमने जब अपना सब कुछ मुझे दे दिया है तो उस पर अब तुम्हारा स्वत्व नहीं रहा न? राजा ने कहा, 'हाँ प्रभु, सब आपका है। मैंने ज्यों ही आपको देने का संकल्प किया त्यों ही आपका हो गया था।' 'तो फिर राजा', विश्वामित्र ने डपट कर कहा, 'जहाँ तक मेरा राज्य है, वहाँ तक तुम्हारा कोई स्थान नहीं, तुम राज्य से बाहर हो जाओ, अपने आभूषण और राजवस्त्र उतार दो, वल्कल पहनो, स्त्री-पुत्र को साथ लो, मेरी सीमा छोड़ कर कहीं और चले जाओ।'

राजा ने ऐसा ही किया। पर निःस्व हो कर जब राज्य से बाहर जाने के पथ पर आये तो विश्वामित्र फिर आगे आकर खड़े हो गये और धर्म की आड़ में कपट का अग्नि बाण छोड़ा। बोले, 'तुमने राजसूय यज्ञ किया है, दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है, अब दक्षिणा दो। उसके बिना नहीं जा सकते, प्रणबद्ध हो।' राजा ने कहा, 'ब्राह्मण, जो कुछ मेरा था, दे चुका हूँ, अब ये तीन कलेवर ही बच रहे हैं—मेरा, स्त्री का, पुत्र का—और क्या है मेरे पास?' विश्वामित्र ने फिर धर्म की दुहाई देते हुए कहा, 'कुछ भी हो, तुम्हें अपना वचन सत्य करना पड़ेगा। तुमने कहा नहीं था, देने का वचन देकर वचन रखना, आर्त्त की रक्षा करना और आततायी से युद्ध करना, ये तुम्हारे धर्म हैं! अब वचन पूरा करो। मुझे दक्षिणा दो और तब तक दक्षिणा दो जब तक मेरा मन न भरे, मुझे सन्तोष न हो।'

अब तक की कहानी में दिख ही रहा है कि **पुराण** की एक अपनी धर्म-विमर्शमयी दृष्टि, या प्रज्ञा है, जो इस जानी मानी कहानी में नई गहराई लाती है। आगे की कहानी पहचानी सी है। राजा ने समय माँगा। विश्वामित्र ने उस पर भी अवधि बाँधी, बस एक महीने का समय दिया। राजा ने स्त्री-पुत्र को बेचा, अपने आप को बेचा, श्मशान का चाण्डाल हो गया। पर इतने से जो दक्षिणा बन पाई, विश्वामित्र को प्रसन्न न कर पाई। उन्हें प्रसन्न होना ही नहीं था। प्रसाद उसी में जाग सकता है जिसमें मैत्री सहानुभूति जैसे भाव हों। विश्वामित्र धर्म से बाहर निकल चुके थे। स्वयं पिशाच हो चुके थे, राजा को चण्डाल बनाया। आसुरी वृत्ति और अमानुषी क्रोध और अहंकार के वश हो कर धर्म को प्रतिशोध का हथियार बना लिया।

हरिश्चन्द्र अपनी श्रद्धा पर टिके रहे। यह मानना कठिन है कि वे विश्वामित्र का दुराशय नहीं भाँप सके थे—कहानी इस बात पर चुप है—पर हरिश्चन्द्र ने प्रतिज्ञा पालन में कोई द्विधा नहीं दिखाई। यहाँ पाठक के मन में कई प्रश्न जाग सकते हैं। एक तो यह सोचिये कि कृष्ण अगर हरिश्चन्द्र के परामर्शदाता होते तो क्या सुझाते? एक बात तो यहाँ खरी खरी सामने आती है, जो किसी को भी सूझेगी। आततायी से विरोध को राजा ने स्वयं धर्म का अंग कहा है। विश्वामित्र को क्या आततायी नहीं कह सकते? एक और प्रश्न है जो **आज** सहज उठ सकता है : स्त्री-पुत्र पर हरिश्चन्द्र का क्या अधिकार था, जो उन्होंने स्त्री-पुत्र को बेचा?

और भी कई दृष्टियों से प्रश्न उठ सकते हैं, पर अभी नहीं उठाऊँगा। कहानी पर फिर आता हूँ। एक घटना लक्षणीय है। राजा नगरी छोड़ कर जा रहे हैं, पर नगर के लोग उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। पीछे पीछे आते हैं। धर्म की—आनृशंस्य धर्म की—दुहाई देकर उन्हें कहते हैं, तिष्ठ तिष्ठ नृपश्रेष्ठ, स्वधर्ममनुपालय/आनृशंस्यं परो धर्मः क्षत्रियाणां विशेषतः—रुको, रुक जाओ राजा, अपने धर्म का पालन करो। आनृशंस्य परम धर्म है, विशेष कर तुम जैसे क्षत्रिय के लिए।

मैंने इन लेखों के आरम्भ में कहीं लिखा था कि आनृशंस्य की बात **महाभारत** में ही आई है, वहीं इस पर ध्यान दिलाया गया है, और जगह नहीं। पर यहाँ **मार्कण्डेय पुराण** में भी हम 'आनृशंस्य' का एक अर्थ-गहन प्रयोग देख रहे हैं। पुराण के इस प्रसंग में आनृशंस्य की राज्यकर्म और राजधर्म के आदर्श के रूप में भी धारणा प्रकट है। अब तक के प्रयोगों में आनृशंस्य का सम्बन्ध व्यष्टि के परार्थ भाव से ही बनता दिख रहा था। यक्ष प्रश्न के प्रसंग में तो स्पष्ट ही 'आनृशंस्य' का संकेत व्यक्ति के निजी शील और आचरण की ओर ही था। 'स्व' के परार्थ भाव की ओर था; किसी सार्वजनीन राष्ट्र-व्यवस्था की ओर नहीं, जैसा यहाँ **पुराण** में निकलता है : प्रजा राजा को आनृशंस्य की दुहाई देकर कह रही है कि राजा, तुम ही राज्य करो, क्योंकि राज्य का औचित्य से धारण आनृशंस्य चाहता है और तुम ही उसके योग्य हो। ध्वनि यह भी है कि विश्वामित्र अयोग्य हैं—कहीं की भी प्रजा उनके आचरण से आश्वस्त नहीं हो सकती।

यहाँ आनृशंस्य का राजकाज और समष्टि-धर्म की ओर जैसा इंगित उभरता है, क्षेमदर्शी राजा की कथा में भी नहीं उभरता, हालांकि वहाँ इसकी अपेक्षा रहती है। वह कथा भी राजा की और उसके धर्म की ही है, इसलिए भान हो सकता है वहाँ भी आनृशंस्य को व्यवस्था के आधार के रूप में देखा जा रहा होगा। पर ऐसा है नहीं। क्षेमदर्शी की कथा में प्रश्न राजा के निजी शील का ही है। उसके निश्छल, निर्वैर मैत्री भाव का। हाँ, एक बात है, क्षेमदर्शी को उसके आनृशंस्य भाव के कारण मंत्री बनाया जाता है, और इस रूप में उसका जो कर्म रहा होगा उसमें आनृशंस्य के व्यवस्था-रूप की अपेक्षा हम कर सकते हैं। पर उसकी ओर कथा में कोई इंगित नहीं है। हरिश्चन्द्र की इस कहानी में धर्म का व्यवस्था के साथ सम्बन्ध वहीं स्पष्ट है जहाँ राजा विश्वामित्र से अपने धर्म की बात करता है : आर्त्त को और ज्ञान के पुरुषार्थी को ('ब्राह्मण' का यही उचित अर्थ है), इनको दान; प्रजा की रक्षा—अर्थात् पालन और संरक्षण और साथ में न्याय, आततायी को दण्ड—ये व्यवस्था के ही आदर्श हैं। हरिश्चन्द्र की प्रजा जब राजा के आनृशंस्य की बात करती है तो सम्बन्ध सहज ही इन्हीं धर्मों से जुड़ता है।

व्यवस्था के प्रसंग में आगे बढ़ने से पहले यहाँ हम अपेक्षा कर सकते हैं कि मंत्री के रूप में क्षेमदर्शी का भी यही आदर्श रहा होगा। 'आनृशंस्य' का स्वरूप कैसे पकड़ा जा सकता है, इसकी थोड़ी सी चर्चा करता हूँ। यक्ष प्रश्न में उल्लिखित आनृशंस्य की विवेचना करते हुए हमने आनृशंस्य के परार्थ भाव को 'वासना' की धारणा से जोड़ा था।

और 'वासना' को मनुष्य के लोक-सुलभ स्वभाव और लोक-सुलभ इच्छा-कामना-एषणा—या कहिए 'चाह'—के आधार पर आँका था। देश-काल-पात्र के साथ 'वासना' की परिधि में कुछ परिवर्तन की कल्पना की जा सकती है। फिर भी कुछ ऐसा है जिसे उस परिधि की नाभि या केन्द्र कह सकते हैं, जो मनुष्य में स्वरूप-स्थित सा कहा जा सकता है। हमने यह भी कहा था कि युधिष्ठिर जब यह निर्णय लेते हैं कि माद्रीपुत्र को जिलायेंगे, कुन्तीपुत्र को नहीं तो इस अध्यवसाय में उन्होंने 'वासना' पर ही अपने परार्थ भाव की नींव रखी थी : मनुष्य चाहता है उसका वंश, उसकी सन्तति बनी रहे। युधिष्ठिर के समय, युधिष्ठिर जिस संस्कृति में थे उसमें, यह अभिलाषा सहज थी; आज भी विरल नहीं है। पर यक्ष-प्रश्न के प्रसंग में 'वासना' को व्यक्ति के परार्थ-भाव की तुला के रूप में देखा गया था। आनृशंस्य वहाँ भाव था, श्रद्धा नहीं। उसे समष्टि-धर्म के रूप में हमने आँका नहीं था, पर आँका जा सकता है, और वासना को फिर तुला बनाया जा सकता है। पर एक ग्रन्थि ऊपर आयेगी, जो यक्ष-प्रश्न की कहानी में दबी ही रह जाती है : एक शब्द में कहें तो ग्रन्थि है 'दण्ड'—जो व्यवस्था में अपेक्षित 'न्याय' की अपेक्षा है। और रक्षा में अपेक्षित युद्ध की।

वैसे 'दण्ड' को हरिश्चन्द्र अपने धर्म का अंग कह कर भी बताते हैं। राजा जिन धर्मों की बात करते हैं उनमें धर्मयुद्ध भी इतिकर्त्तव्यता की श्रेणी में आता है। और यह स्वाभाविक ही लगता है। अगर रक्षा करना राजा का धर्म है तो शत्रु से—या राजा के शब्दों में 'परिपन्थी' से—युद्ध करना रक्षा के अर्थ के अन्तर्गत ही है। कहानी में जब विश्वामित्र राजा को उसी के कहे गये धर्मों की याद दिलाते हैं तो 'परिपन्थी' की जगह 'आततायी' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'परिपन्थी' को अगर हम यों समझें 'वह जो उचित पन्थ के विरुद्ध जा रहा हो' तो अर्थ 'आततायी' का पर्याय हो जाता है। फिर भी 'आततायी' के अर्थ में एक व्यापकता है जो 'परिपन्थी' में उतनी स्फुट नहीं है। 'आततायी' बाहर का ही नहीं, भीतर का—राज्य के भीतर का—परिपन्थी भी हो सकता है। कोई भी हो सकता है, जो धर्म के पन्थ का परिपन्थी हो। जिनको 'ऋषि' 'मुनि' की संज्ञा दी जाती है, वे भी आततायी हो सकते हैं।

धर्म का सम्बन्ध समष्टि से और व्यवस्था से जुड़े तो 'आततायी' जैसी किसी धारणा का उसमें आविर्भाव हो ही जायेगा। यह टेढ़ा प्रश्न बन जायेगा कि आततायी किसे कहें और उसके प्रति आचरण क्या हो? पर आततायी होगा। हरिश्चन्द्र युद्ध को भी आनृशंस्य की कोटि में सम्मिलित कर लेते हैं। युधिष्ठिर के लिए यह आपद्-धर्म था—जैसा हम देख चुके हैं। आनृशंस्य का मर्म अगर अहिंसा है तो युद्ध का उसमें समावेश विषम ही लगता है। पर दूसरी ओर आनृशंस्य अगर व्यवस्था का आधार हो तो 'कंटक शोधन' भी उसकी परिधि में आयेगा ही। परिपन्थी से युद्ध भी आवश्यक होगा, क्योंकि बात व्यक्ति के शील की नहीं, समष्टि की सुरक्षा की है। कृष्ण युद्ध को एक अलग धर्म की पंगत में रखते हैं : उसे 'सत्य' कहते हैं। जो ठीक ही लगता है। आनृशंस्य की पंगत में युद्ध को

बिठाना विसंगत है। पर मूल प्रश्न धर्म के अन्तर्गत स्थित विरोध का है, जो युद्ध में साफ झलक आता है, फिर युद्ध को चाहे हम आनृशंस्य में रखें या नहीं रखें। आनृशंस्य के हृदय में जो अहिंसा, जो मैत्री करुणा आदि का परार्थ और समरस परस्पर-भाव की प्रेरणा है वह 'आततायी' और 'युद्ध' जैसी धारणाओं से व्याहत होती ही है। धर्म के बीच 'दण्ड' आ बैठता है, जो धर्म का सहज परिपन्थी है। फिर 'परिपन्थी' की धारणा के साथ ही एक सदा सालती पीड़ा विचार के प्राण में और आ पैठती है। राजा के लिए बाहर के शत्रु मात्र को 'परिपन्थी' मानना आवश्यक हो जाता है, 'आततायी' हो न हो। समष्टियों के लिए—राष्ट्रों के लिए कहना चाहिए—शत्रु मात्र में और आततायी में भेद करना एक अवान्तर सी बात होती है—युद्ध तो उन्हें करना ही होता है, धर्मयुद्ध तो कम ही होते हैं। युद्ध न भी करें तो भी एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति आचरण साम-दान-दण्ड-भेद का होता है, आनृशंस्य से कहीं दूर। या आनृशंस्य वहाँ गौण हो जाता है। और लगता है इसके सिवा कोई चारा नहीं है। न था, न आज है। धर्म का यह काँटा धर्म के स्पन्द में ही बसा लगता है।

पर फिर कहानी पर आता हूँ। मैंने कहा कि आततायी ऋषि-मुनि भी हो सकते हैं। विश्वामित्र जिस रूप में यहाँ आये हैं, उन्हें हम और क्या कहेंगे? अगर आततायी का विकट रूप उसमें दिखता है जो जान-बूझकर धर्म का परिपन्थी बनता हो, तो विश्वामित्र को परम या महा आततायी भी कह सकते हैं। विश्वामित्र सजग-सतर्क ही नहीं, बड़े नीति-कुशल आततायी थे। राजा के धर्म में बैठे विरोध को ही उन्होंने राजा के सर्वनाश का उपाय बनाया। राजा अपने धर्म में अडिग रहे, विश्वामित्र को उन्होंने ऋषि ही माना, आततायी नहीं, वरना कहानी कुछ और ही होती। पर यह भी सोचिये, धर्म का मूल अगर परस्पर भाव में है, मनुष्य-मनुष्य के ऐक्य और अभेद में है तो धर्मशील की दृष्टि में आततायी उभरेगा ही कैसे? कपट को तो कपट ही पहचान सकता है। धर्मशीलों को हम शायद यों दो कोटियों में रख सकते हैं : एक वे जो आमूल-चूल निष्कपट होते हैं। ऋजु। उनका सद्भाव कपट देखता ही नहीं। दूसरे वे जो कपट देख कर कपट का विरोध करते हैं। राज्य करने वाला दूसरी कोटि का ही होना चाहिए। पर हरिश्चन्द्र पहली में थे। दूसरी में कृष्ण आते हैं। पर ऐसा हो, यही क्या विडम्बना नहीं है?

कहानी का अन्त बड़ा करुण है। हमारे यहाँ धर्म को मनुष्य का मनुष्यत्व कहा गया है। कहानी में गति विपरीत है। कहानी के अन्त में धर्मप्राण हरिश्चन्द्र अपने आप को देखते हैं तो अपने वीभत्सभाव से बिल्कुल टूट जाते हैं। अपने आप को मनुष्य के रूप में भी नहीं पहचान पाते।

राजा ने स्त्री-पुत्र को बेचा। स्त्री शैव्या को आशा थी कि राजा उसका मूल्य चुका कर शीघ्र छुड़ा ले जायेंगे। उधर विश्वामित्र की दी हुई अवधि बीतने वाली थी, आधा ही दिन बचा था। राजा कहाँ से धन लाते? ऐसा भी कोई नहीं था जो उनका क्रय करता। तभी एक चण्डाल आया। कहानी में है कि धर्म स्वयं चण्डाल बन कर आये। उन्होंने

कहा, वे राजा को वेतन पर रखना चाहते हैं। राजा चण्डाल के नौकर होकर घिनौना काम नहीं करना चाहते थे। कहाँ सूर्यवंश कहाँ चण्डाल की चाकरी। पर विश्वामित्र वहीं थे। आग हो गये कि ये तुम्हें अच्छे पैसे दे रहा है और तुम ले नहीं रहे हो; दक्षिणा कहाँ से दोगे? राजा ने समर्पण के भाव से कहा, आपका ही दास बन जाता हूँ, आप जो चाहें मुझसे बर्ताव करें। विश्वामित्र और निर्दय होकर बोले, 'तुम मेरे हो तो मैं ही तुम्हें इस चण्डाल को बेचता हूँ।'

राजा श्मशानवासी हो गये। कई दिनों तक स्त्री पुत्र के लिए आर्त्त और आतुर रहे। फिर धीरे-धीरे श्मशान के घोर वातावरण में 'हा पिता', 'हा पुत्र' जैसे द्रवित क्रन्दन क्षण-क्षण सुनते-सुनते निष्करुण हो गये। भावना ही जैसे दग्ध हो गई। रीत गई। उनकी पूर्व स्थिति उनका पूर्व का आत्मबोध, सपने की बात हो गई। कहानी में उनके एक सपने का व्यंजक वर्णन है, जो उनकी स्थिति के भयंकर रूप को प्रकट करता है। मूल यहाँ नहीं दूँगा, सहृदय पाठक की जिज्ञासा पर छोड़ देता हूँ। पर सपना वहाँ इस बात का भी प्रतीक है कि हरिश्चन्द्र का 'आपा' भी सपना होता जा रहा था। सपना राजा को चौंका देता है। उठ कर राजा धर्म को प्रणाम करते हैं। स्त्री-पुत्र की मंगल-कामना करते हैं। एक बार जैसे उनका आपा लौट आता है।

पर फिर शवों का मूल्य ग्रहण करने में लिप्त हो जाते हैं। नष्ट-स्मृति हो जाते हैं। स्त्री-पुत्र मन से विलीन हो जाते हैं। फिर एक दिन शैव्या अपने सर्प-दष्ट मृत पुत्र को लेकर श्मशान में आती है। राजा ने उसे नहीं पहचाना। बदल भी गई थी। दुःख से बुझी हुई थी, चिर प्रवास से मलिन। रानी ने भी राजा को नहीं पहचाना : हरा-भरा पेड़ ठूंठ हो गया था: नाप्यजानन्नृपसुता शुष्कवृक्षोपमं नृपम्।

पर मृत बालक को देखकर राजा को अपने पुत्र की याद आई। सोचने लगे, वह भी आज इतना ही बड़ा होता। तभी राजपत्नी पुरानी बातें दुहराने लगीं और रोने लगीं—कैसे राजा ने उन्हें बेचा, अपने आपको बेचा। मर्यादाहीन दैव की भर्त्सना करने लगीं।

राजा की स्मृति जाग उठी। स्त्री-पुत्र को पहचाना। पर स्मृति ने विह्वल कर दिया। बेसंभाल हो गये। शैव्या ने विलाप के स्वर में राजा से कहा, 'यह सत्य है या स्वप्न? यह सच है तो तुम धर्मज्ञ हो, बताओ, अगर यही धर्म है तो धर्म कोई सहारा नहीं है—धर्म का पालन व्यर्थ है, सत्य आर्जव आनृशंस्य सब खोखले हैं, जब धर्मात्मा होते हुए तुम्हारी यह दशा है जो धर्म का धारण क्या?' मूल के श्लोक भी स्मरणीय हैं। दे रहा हूँ : राजपत्न्युवाचः राजन्स्वप्नोऽथ तथ्यं वा यदेतन्मन्यते भवान्। तत्कथ्यतां महाभाग मनो वै मुह्यते मम॥ यद्येतदेवं धर्मज्ञ नास्ति धर्मे सहायता। तथैव विप्रदेवादि पूजने पालने भुवः॥ नास्ति धर्म कुतः सत्यमार्जवं चानृशंसता। यत्र त्वं धर्मपरमः स्वराज्यादवरोपितः॥ **मार्कण्डेय पुराण**, वेंकटेश्वर प्रेस, अध्याय आठ, श्लोक 217-219।

सहिष्णु राजा से और सहा नहीं गया। उन्होंने दारुण अधर्ममय निर्णय लिया कि आत्महत्या करेंगे। शैव्या से बोले, 'जानता हूँ, चण्डाल से पूछे बिना मुझे मरना नहीं चाहिए,

और यों भी आत्महत्या से नरक यातना का भागी हूँगा, पर अब दुःख सहा नहीं जाता : 'नार्त्तिना क्लिष्टो नरः पापमवेश्यते। बस तुम मुझे क्षमा कर देना।' शैव्या ने भी आत्महत्या की ही ठानी।

दोनों चिता पर बैठने लगे तो धर्म और दूसरे देवता आ पहुँचे। राजा की तितिक्षा पर पुष्प-वर्षा हुई। जो त्रिलोक में किसी को मित्र नहीं बना सके वे विश्वामित्र भी उनकी मैत्री चाहते हुए आये—विश्वत्रयेण यो मित्रं कर्तुं वै नाशकत्पुरा/विश्वामित्रस्तु ते मैत्रीमिष्टं चाहर्तुमिच्छति ॥

कहानी का अन्त आहार्य सा लगता है। ऊपर से थोपा हुआ। नकली। हमारी परम्परा ऋत को धोखा या छलावा नहीं मान सकती थी। ग्रीक ट्रैजेडी में ऐसा हो सकता था : दैव की अनृतमयी गति। पर हमारे यहाँ नहीं। हरिश्चन्द्र के जिस सपने की बात ऊपर कह आया हूँ उसमें भी कुछ ऐसा अभिप्राय है कि राजा जो कुछ भोग रहे थे, उनके अपने ही किसी पूर्वजन्म के किये का फल था। पर इससे कहानी की विभीषिका, उसका वीभत्स, रौद्र भाव घट नहीं जाता, यह भी स्पष्ट है। कहानी धर्म के ही मर्मघाती अन्तर्व्याघात की कहानी है, जैसाकि शैव्या ने कहानी में ही खोल कर कह दिया है।

कहानी पर कुछ प्रश्न हमने उठाये थे। और भी उठ सकते हैं। पर उठाऊँगा नहीं। फिर भी एक प्रश्न से अपनी बात आगे बढ़ाता हूँ। हरिश्चन्द्र महा तितिक्षु थे, धर्मप्राण ही नहीं, धर्म-भीरू भी लगते हैं। जो धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता है उसी ने उन्हें अमानुष की स्थिति में ला खड़ा किया। फिर भी हरिश्चन्द्र ने अपना आनृशंस्य-भाव नहीं छोड़ा। उन्हें देवताओं ने स्वर्ग का निमन्त्रण दिया तो बोले कि मैं अपनी प्रजा के बिना किसी उत्तम गति को नहीं पाना चाहता; मुझे स्वर्ग दें तो मेरी प्रजा मेरे साथ होगी।

बड़प्पन की बात थी। पर एक और स्थिति की कल्पना कीजिए। पुराणकार ऐसी कल्पना नहीं कर सकता था, पर हम तो कर सकते हैं। मान लीजिए कि हरिश्चन्द्र देवताओं से न्याय की माँग करते। कहते कि मुझे स्वर्ग नहीं न्याय चाहिए, विश्वामित्र ने क्या मेरे साथ अन्याय नहीं किया? आप विचार कीजिए। देवता क्या विचार करते? और अगर हम यह कहें कि देवता धर्म-विचार नहीं कर सकते, यह काम मनुष्य का है, तो वहाँ ऋषि भी उपस्थित थे। वे तो विचार कर ही सकते थे।

बल्कि यों कहना चाहिए कि अगर धर्मशील थे तो विचार से इनकार नहीं कर सकते थे। हमने ऊपर दायित्व-बोध की बात की थी। कोई न्याय माँगे तो क्या न्याय करना दायित्व नहीं बनता? ऋषि यह भी नहीं कह सकते थे कि वे इसके 'अधिकारी' नहीं हैं। यह दायित्व उठाने के 'योग्य' नहीं हैं।

न्याय व्यवस्था का मर्म है। न्याय एक बोध भी है। न्याय-बोध को मैं समझता हूँ यों आँका जा सकता है कि दायित्व-बोध को एक सोपान और ऊपर ले चलें। प्रण-पालन, वचन रखना ये दायित्व हैं। न्याय दायित्व-बोध की परीक्षा है। किस अर्थ में हम विश्वामित्र को भी हरिश्चन्द्र के दायित्व का परीक्षक कह सकते हैं। पर वे न्याय नहीं कर रहे थे।

न्याय की परीक्षा एक की नहीं अनेक की अपेक्षा रखती है। दो या दो से अधिक के बीच न्याय किया जाता है। दोनों में किसने अपना दायित्व भंग किया, यह परीक्षा की जाती है। प्रकट है व्यवस्था न्याय की अपेक्षी है।

न्याय में दण्ड भी स्वयम्भू सा आ खड़ा होता है। जो दायित्व से चूका हो वह दण्ड का अधिकारी हो जाता है, चाहे दण्ड का स्वरूप कुछ भी हो। प्रायश्चित्त ही हो, और यों एक तरह का स्वदण्ड। पर प्रायश्चित्त भर से न्याय की माँग पूरी नहीं होती, माँग का धर्म-संकट ही सिर उठाता है। अपराधी प्रायश्चित्त करे भी तो क्या जिसके प्रति अपराध किया गया उसको न्याय मिल जाता है? क्षमा न्याय का धर्म नहीं है।

न्याय में धर्म का अनैक्य पक्ष और अनैक्य में निहित भेद-पक्ष साफ उजागर हो जाता है। न्याय में ऊह्य है कि जो भी न्याय-व्यवस्था के मण्डल में आते हैं उनमें एक-एक को अलग, समान और स्वतंत्र मानना अनिवार्य है। इस ऊह के बिना न्याय की धारणा सम्भव नहीं। पर यहीं एक संकट भी उभरता है। एक-एक को अलग, समान और स्वतन्त्र विधि-विधान की व्यवस्था के भीतर ही रखा जा सकता है और व्यवस्था में तारतम्य से, असमानता से नहीं बचा जा सकता।

समानता की धारणा न्याय की धारणा से ही आक्षिप्त होती है। स्वतन्त्रता तो धर्म मात्र के लिए आवश्यक है, चाहे धर्म का भाव पक्ष हो या दायित्व पक्ष। पर इनके लिए समानता का होना आवश्यक नहीं है। न्याय की धारणा स्वरूप से ही समानता की अपेक्षा रखती है। हम आज स्वतन्त्रता और समानता को एक-सी दृष्टि से देखने के आदी से हो गये हैं, पर धर्म की धरती पर दोनों का स्थान समान नहीं है। दोनों में स्पष्ट वैषम्य है। स्वतन्त्रता साध्य होती है—यह हर एक व्यष्टि के लिए एक साधना है। पर समानता उस तरह **साध्य** नहीं हो सकती। यह किसी अन्तरङ्ग साधना-व्यापार का हेतु नहीं हो सकती। समानता की साधना क्या साधेगी? इसके साध्य होने का अर्थ ही क्या होगा? यह कैसा पुरुषार्थ बनेगा? पर एक बात और सोचिये। स्वतन्त्रता साध्य है तो उसमें तारतम्य भी स्वाभाविक होगा। सब समान रूप से स्वतन्त्र नहीं हो सकते क्योंकि सब समान साधक नहीं हो सकते। पर समान सब को मानना होता है— न्याय के प्रसङ्ग में, और यों व्यवस्था के प्रसंग में, क्योंकि न्याय के बिना व्यवस्था न पूरी होगी, न धर्म्य होगी। इसी प्रसंग में समानता धर्म द्वारा आक्षिप्त होती है। होती नहीं है, दी जाती है। हमारा न्याय-बोध इसका आहरण करता है। न्याय-बोध और न्याय-व्यापार के लिए समानता-बोध अपरिहार्य है। पूर्ण समानता। जो भी न्याय-व्यापार के घेरे में आता है, न्याय-तत्त्व की दृष्टि से दूसरों के बिलकुल समान ही ठहरता है। व्यवहार में चाहे काँट-छाँट, ऊँच-नीच ज़रूरी हो जाती हो, किसी को हलका किसी को भारी रखना अनिवार्य सा हो जाता हो। पर न्याय का परम अर्थ यह नहीं है। व्यवहार में ऊँच-नीच का एक कारण स्वतन्त्रता ही होती है। पशु इसीलिए मनुष्य 'समान' नहीं रखा जाता और शिशु वयस्क समान, क्योंकि ये स्वतन्त्र नहीं होते। स्त्री को भी जो 'असमान' रखा जाता रहा है, इसी कारण कि उसमें स्वातन्त्र्य को

क्षीण माना गया है। पर जो स्वतन्त्र नहीं है, पूरी तरह न्याय के घेरे में आता भी नहीं है। हाँ, आनृशंस्य के घेरे में आ सकता है।

पर न्याय जहाँ समानता की अपेक्षा रखता है वहीं—न्याय-व्यापार के भीतर ही—एक मूलभूत असमानता को पाले बिना भी न्याय सम्भव नहीं होता। न्याय-कर्त्ता और न्याय-प्रार्थी ये समान नहीं हो सकते। आप कह सकते हैं कि व्यवहार में ही असमान होते हैं, तत्त्व में नहीं। आज न्याय करने वाला कल न्याय-प्रार्थी हो सकता है। बात एक तरह से तो ठीक है, पर एक अन्तर तत्त्व में ही निहित जान पड़ता है। हटाया नहीं जा सकता। तत्त्वतः न्याय-प्रार्थी स्वातन्त्र्य का साधक माना जाता है—दो प्रार्थियों के बीच स्वातन्त्र्य का तारतम्य ही न्याय का आधार बनता है। नहीं तो कृत-युग में न्याय की बात ही क्या? पर न्यायकर्त्ता इस तारतम्य का भागी नहीं माना जा सकता, वास्तव में चाहे होता हो। उसके सम्बन्ध में प्रश्न स्वातन्त्र्य की **साधना** का नहीं होता। उसे तारतम्य की सीढ़ियों से अलग बिठाकर ही न्याय की बात बनती है।

यह न्याय की विचित्र सी विडम्बना है। या उसका संकट कहिये—धर्मसंकट, बल्कि मर्मसंकट, जो यहाँ और भी समीचीन शब्द जान पड़ता है। इसी पर **महाभारत** का एक मार्मिक प्रसंग है। युधिष्ठिर राज्य नहीं संभालना चाहते। भीष्म से पूछते हैं, यह राजा कैसा जीव है? राजा की सत्ता, उसकी स्थिति, उसका 'होना' ही उन्हें बड़ा अनहोना, विषम विरोध भरा दिखाई देता है। और औचित्य की कसौटी पर खोखला। भीष्म से कहते हैं, 'लोग 'राजा' 'राजा' करते हैं, यह 'राजा' है क्या? हुआ कैसे? जैसे और लोग होते हैं वैसा ही होता है, वैसे ही हाथ-पाँव, वैसे ही मन-बुद्धि, वैसे ही सुख-दुःख का भागी, वैसा ही जीवन-मरण, फिर सब पर राज कैसे करता है? न्यायधारी-दण्डधारी कैसे होता है?' इसके बाद ही भीष्म धर्म के आदि परस्पर-भाव की और उसमें 'खेद' के आ जाने की वह कहानी सुनाते हैं, जिसकी पिछले लेख में चर्चा हो चुकी है।

न्याय का और न्याय के साथ दण्ड का राजा से सम्बन्ध न्याय का व्यष्टि-भिन्न समष्टि से सम्बन्ध है। व्यक्ति के रूप में राजा की सत्ता विचित्र ही इसलिए लगती है कि उसका रूप व्यष्टि के रूप में पकड़ा ही नहीं जा सकता, वह समष्टि का प्रतीक है। उसके होने में विरोध इसी बात का है कि वह व्यक्ति होता हुआ भी समष्टि होता है, और उसमें एक विशेष समष्टि-समर्पित व्यक्तित्व की अपेक्षा भी होती है। मनुष्य ने ऐसी व्यवस्थायें साधने की चेष्टा की है जहाँ समष्टि ही राजा हो जाये—राजा नाम का व्यक्ति-विशेष रहे ही नहीं, राज्य-कर्म का व्यष्टि से सम्बन्ध ही मिट जाये। लोकतन्त्र यही साधना है। इसी के आनुषंगिक राज्य के ऐसे भी स्वरूप की आज साधना है कि राज्य संस्था-प्राण हो जाये, और संस्था नियम-प्राण, चलाने वाले व्यक्ति के भाव की—चाहे सद्भाव हो या दुर्भाव—व्यक्ति-निष्ठ भाव की उसमें जगह ही न रहे। यह न्याय के लिए किया जाता है, न्याय को निरहं, स्वार्थ-सम्बन्धहीन बनाने के लिए। अपनी शब्दावलि में हम इस चेष्टा को कह सकते हैं, धर्म के सत्य को धर्म के भाव से विलग कर देने की चेष्टा। पर मनुष्य की कोई भी

व्यवस्था हो, चलाते व्यक्ति ही हैं, और चलाई व्यक्तियों के लिए ही जाती है, भाव-सम्बन्ध मिट नहीं सकता, और भाव व्यक्ति-निष्ठ होता है। नियम में नहीं ढल सकता। भाव-सम्बन्ध को संस्था के भाव-मुक्त नियम-जाल में उतारने की चेष्टा में यह भी हो जाता है कि व्यष्टि के दुर्भाव को नियम की आड़ में खुल खेलने का मौका मिल जाता है। युधिष्ठिर ने जिस विडम्बना की बात की है वह भेस बदल लेती है, मिटती नहीं है।

पर एक और बात इस ऊपर की विवेचना से प्रकट है। हमने कहा था कि समानता साध्य नहीं होती, वह न्याय की धारणा की अनिवार्य आवश्यकता है, उसके द्वारा आक्षिप्त होती है। पर यहाँ राजा की और समष्टि की चर्चा में यह भी उभर कर आ रहा है कि न्याय व्यक्ति द्वारा न सही राजा द्वारा साध्य होता है। समष्टि समानता **साधती** है। कई इतिहासकारों ने तो मनुष्य की इतिहास-यात्रा की सार्थकता ही इसमें देखी है कि मनुष्य समानता साधता है। ऐसे भी हैं जो लोकतन्त्र की विश्व-विजय में इस यात्रा का अन्त देखते हैं, और यहाँ तक कह देते हैं कि विजय हो चुकी है।

उनकी भ्रान्ति की यहाँ समीक्षा नहीं करूँगा। पर एक प्रश्न छेड़ता चलता हूँ : मैंने कहा कि समानता की माँग न्याय-व्यापार की माँग है और न्याय-व्यापार धर्म का ऐसा व्यापार है जो भाव से वियुक्त हो जाने की साधना करता है। ऐसी व्यवस्था की साधना करता है जहाँ व्यवस्था ही न्याय हो जाये। व्यष्टि से स्वतन्त्रता। (व्यष्टि से स्वतन्त्र।) पर समानता अगर आक्षिप्य ही नहीं साध्य भी है, चाहे समष्टि की ही साध्य सही, तो क्या आनृशंस्य जैसे किसी भाव के बिना यह साधना सार्थक हो सकती है? और मैत्री आदि भाव अगर व्यक्ति-निष्ठ व्यापार हैं तो समष्टि 'समानता की साधना में आगे बढ़ना साध्य समझती है' इसका क्या अर्थ होगा? यही होगा कि मनुष्य की चेतना कृत-युग की चेतना में ढलने की चेष्टा करती है, विशुद्ध परस्पर भाव की स्थापना को अपना परम निःश्रेयस् मानती है, जहाँ असमानता की बात ही निरर्थक हो। जहाँ परस्पर भाव के लिए राजा की, दण्ड के किसी विधि-विधान की — न्याय की — आवश्यकता ही न हो। पर ऐसा है तो समानता की साधना क्या व्यवस्था की साधना होगी या व्यवस्था-मुक्ति की? या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यह ऐसी व्यवस्था की साधना होगी जो अ-पृथक् प्रयास-सिद्ध हो, अन्तरंग हो, जिसके लिए दण्ड, कानून जैसे बहिरंग प्रयत्न की आवश्यकता न हो। और यों जो व्यवस्था ही न हो। इस साधना को हम व्यवस्था ही के माध्यम से की गई साधना मानें तो फिर यह भी मानना होगा कि व्यवस्था एक सीढ़ी है जो धर्म के परम परस्पर-भाव की भूमि पर हमें चढ़ा कर विलीन हो जायेगी। बेकार हो जायेगी। जैसा मार्क्स मानते थे। जैसे ब्रह्म के परमार्थ में साधना का व्यवहार अपना फल्गु मिथ्यारूप त्याग कर विलीन हो जाता है।

यह ऊह मैं विचार को इस दिशा में आगे बढ़ाने के लिए यहाँ नहीं रख रहा हूँ। चेष्टा कुछ ऐसी मान्यताओं की ग्रन्थि देखने की कर रहा हूँ जिन्हें आज के कुछ चिन्तकों का धर्मबोध सहज निर्ग्रन्थ विश्वास का विषय मानता है : बहिरंग व्यवस्था से अन्तरंग

परस्पर-भाव की सिद्धि। समझता है कि धर्म की साधना राज्य-प्राण है, और उसका सार विधि-विधान की व्यवस्था है। भाव की नहीं।

न्याय जो समष्टि-साध्य होता है उसकी प्रवृत्ति विधि-विधान में ही रूप लेने की होती है। यों समानता कानून की बात हो जाती है—भेद की और गिनती की। हम सब अलग-अलग 'एक' 'एक' हैं—न एक से कम, न एक से ज्यादा। ऐसे कारण हो सकते हैं जिनके चलते व्यवहार में हम पूरी तरह से 'एक' नहीं ठहर पाते, असमानता को जगह देनी पड़ ही जाती है। पर जैसा हम कह भी आये हैं, जहाँ तक न्याय का और न्याय-व्यवस्था का प्रश्न है, ये कारण 'आगन्तुक' ही कहलायेंगे। न्याय के आदर्श को धुँधलाने वाले।

यों समानता निर्मोह होने की दिशा साधती है, पर निर्मम, हृदयहीन भी हो जाती है—अमानुषी। सच तो यह है कि हम समष्टि-भाव में जिस 'समानता' की साधना करते हैं वह केवल न्याय तक सीमित नहीं होती। उसमें भावनिष्ठ आनृशंस्य भी होता है। न्याय की समानता का निष्कर्ष यही निकलता लगता है कि दण्ड की दृष्टि में सब समान हैं। पर यह बात हमारे न्याय-बोध को ही अटपटी लगेगी, क्योंकि उसकी प्रेरणा धर्म है, गणित या दण्ड-नीति नहीं। इसलिए समष्टि जो 'समानता' साधती है उसके और भी आदर्श हैं जो अलग-अलग एक-एक की गिनती नहीं गिनते। वासना की धारणा को फिर से लीजिये। मनुष्य-भाव-सुलभ अभिलाषा को हमने वासना का नाम दिया था। वासना की उचित या 'न्याय्य' पूर्त्ति के बिना हम मनुष्य ही कैसे? हरिश्चन्द्र की कहानी के अन्त में जिस वीभत्स गति की ओर राजा बेबस से बढ़े जाते हैं मनुष्य-सुलभ-अभिलाषा की पूर्त्ति का अभाव किसी को भी उसी ओर धकेलता दिखाई देता है। फिर न्यायबोध इससे कैसे इन्कार कर सकता है कि सबको मनुष्य रहने का अधिकार है? यह साधना भी समष्टि की ही साधना है। राजा का और राज्य का आदर्श है। हरिश्चन्द्र के आनृशंस्य के अन्तर्गत आया ही है। पर यह बात धर्म के भाव-पक्ष से ही उभरती दिखती है—मैत्री करुणा परदुःखदुःखित्व इनकी प्रेरणा के बिना अकल्पनीय हैं। इसमें निहित समानता-बोध भी न्याय के नपे-तुले बाट से नहीं तुल सकता। यक्ष प्रश्न वाली कहानी लीजिये। युधिष्ठिर ने माद्री-पुत्र को जिलाया, आनृशंस्य बरतते हुए माद्री को दिया वचन निभाया। मनुष्य-सुलभ वासना-बोध को ध्यान में रखा। पर जी उठने के बाद उनके दूसरे भाई, और दूसरा माद्रीपुत्र भी, अगर न्याय की माँग करते, कि 'मुझे क्यों नहीं जिलाया, मेरा क्या दोष था, मेरा पलड़ा कैसे हलका था', तो वे क्या कहते? आनृशंस्य की ही दुहाई दे सकते थे, न्याय की नहीं।

जिसे हमने वासना-पूर्त्ति कहा है वह मनुष्य की जिजीविषा के लिए आवश्यक हो सकती है, पुरुषार्थ नहीं हो सकती। पुरुषार्थ का आरम्भ-बिन्दु हो सकती है—ऐसा घर जहाँ से मनुष्य पुरुषार्थ के लिए बाहर निकल सकता है। यहाँ पुरुषार्थ से हमारा आशय अर्थ और काम से नहीं है, धर्म और मोक्ष जैसे आदर्शों से है। अर्थ और काम तो वासना-बोध के अन्तर्गत आ जाते हैं। धर्म और मोक्ष सचमुच आदर्श हैं। और भी हैं। पुरुषार्थ के आदर्शों के पसारे को हम संक्षेप में ज्ञान, कर्म और भाव के आदर्शों का नाम दे सकते

हैं। समानता को पुरुषार्थ की दृष्टि से परखें तो समानता एक सीढ़ी का पहला पाया रह जाता है। क्योंकि न्याय है कि पुरुषार्थ-साधना का सबको समान अधिकार होना चाहिये। पर सच पूछिये तो यह बात 'वासना' में ही समाई है : यह मनुष्य की जिजीविषा का ही अंग है कि वह पुरुषार्थ साधे। पर मनुष्य की सिसाधयिषा में—उसकी पुरुषार्थ-साधना में—समानता की धारणा का क्या काम? बात समान अधिकार की है ही नहीं। 'अधिकारी' हो सकने की ओर बढ़ने की—जिस पुरुषार्थ को हम साधें उसका अधिक से अधिक 'अधिकारी' हो सकने, उसके 'योग्य' प्रतिभा जगा सकने की साधना की बात है। बात सोपान की है, समानता की नहीं।

पर भीष्म ने युधिष्ठिर को राज्यधर्म का उपदेश देते हुए एक और बात कही थी, जो यहाँ ध्यान में रखने योग्य है। उन्होंने कहा था कि न्याय-निष्ठ राज्य-व्यवस्था के बिना अराजकता में पुरुषार्थ भी नहीं साधे जा सकते—और यों उन्होंने राज्यधर्म को सब धर्मों का मूल, सब धर्मों की 'धरती' ठहराया था।

यहीं एक विकट ग्रन्थि सर उठाती है जिसका 'भंग' दिखाई नहीं देता। भारत का नैतिक-राजनैतिक चिन्तन इसके प्रति सदा सजग रहा है। न्याय समष्टि-प्राण है, समष्टि-साध्य है। समष्टि का प्रतीक राष्ट्र होता है। न्याय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक न्याय-व्यवस्था एक-राष्ट्रमय होती है। अपवाद होते हों तो भी इतना तो कह ही सकते हैं कि बाहुल्येन ऐसा होता है : न्याय-व्यवस्था की परिधि राष्ट्र होता है।

पर राष्ट्र एक नहीं अनेक होते हैं और विडम्बना यह है कि राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध के सूत्र धर्ममय ही नहीं होते, नीतिमय होते हैं—साम, दान, दण्ड, भेद इनके सहारे चलते हैं। उनमें आनृशंस्य की, न्याय की बात ही नहीं उठती है। उठती भी है तो बात ही उठती है, उसके आचरण का नवनीत—उसका सार—तो छाछ ही रह जाता है।

विडम्बना में एक विचित्र, विषम सी गहराई और भी है। राष्ट्र, या कोई भी समष्टि कहलाने लायक सत्त्व—ऐसे परस्पर भाव के बिना रह ही नहीं सकता जिसकी नींव में न्याय और आनृशंस्य न हों—और कृष्ण के शब्दों में किसी न किसी रूप में 'प्रभव' की साधना न हो। यह बात राज्य पर ही पूरी नहीं उतरती, लुटेरों की उस समष्टि पर भी पूरी उतरती है जो राज्य के लिए कंटक होते हैं। लुटेरों की परस्पर-व्यवस्था अन्याय की नहीं होती। फिर ऊपर से अचम्भा यह कि वही लुटेरे अगर राजा हो जायें तो उन्हें किसी न किसी अर्थ में, किसी न किसी रूप में—कितने ही आततायीभाव से सही—प्रजा-पालन भी करना ही पड़ता है : न्याय, आनृशंस्य दोनों को कुछ न कुछ व्याप्ति देनी ही पड़ती है, उसके बिना राज्य ही नहीं हो सकता। जो लुटेरा था उसे दूसरे लुटेरों से राज्य को बचाना भी पड़ता है, अनन्यगतिक हो कर।

और दूसरे, राज्य से सम्बन्ध साम दान दण्ड भेद का—नीति का—रखना पड़ता है। हमने धर्म में ऐक्य और अनैक्य पक्ष की बात की थी। यहाँ हम उसकी जटिलता देख सकते हैं। मनुष्य समष्टि-प्राण है। समष्टि परस्पर भाव के सूत्र से अनेक को एक बनाती

है। पर समष्टि एक नहीं अनेक है, और समष्टियों के बीच का परस्पर भाव धर्म पर कम, दण्ड पर अधिक निर्भर करता है। या 'दण्ड' नहीं कह कर 'नीति' कहिये। बात एक ही है; राजनीति को अपने यहां दण्ड-नीति ठीक ही कहा जाता था। नीति की नाभि पर दण्ड ही बैठा है—साम दान भेद उसी के नाम-भेद हैं। नीति परस्पर-भाव का निराकरण है। पर एक समष्टि का दूसरी समिष्टि से सम्बन्ध नीति की ही अपेक्षा रखता है। समष्टि की धर्म-रक्षा के लिए ही नीति आवश्यक हो जाती है। और अक्सर युद्ध भी।

एक बात और देखिये। समष्टि का अनैक्य राष्ट्र के अनैक्य से भी बहुल होता है—एक ही राष्ट्र में कई भिन्न समष्टियाँ होती ही हैं। यह दृष्टि मोघ है कि विश्व एक राष्ट्र हो जाये तो समष्टि-भेद मिट जायेगा। समष्टि-भेद राज्य-व्यवस्था पर निर्भर नहीं करता। उसकी नींव और गहरी है। मनुष्य के स्वातन्त्र्य में उसकी जड़ें हैं। उसी स्वातन्त्र्य में जिसमें धर्म की भी जड़ें हैं। मनुष्य स्व-तन्त्र हो कर धर्म साधता है। इसी को दूसरे शब्दों में हमने कहा कि मनुष्य धर्मतन्त्र हो कर धर्म साधता है। या यों कह सकते हैं कि मैत्री जैसे भावों में स्थित होकर, श्रद्धा में स्थित होकर धर्म साधता है।

पर स्वातन्त्र्य के और भी आयाम हैं। धर्म तो एक पुरुषार्थ है। दूसरे भी हैं ही, और सभी की नींव स्वातन्त्र्य में है। और सभी पुरुषार्थों में दृष्टि-भेद या प्रस्थान-भेद भी होते ही हैं, जो भिन्न परम्पराओं की सृष्टि करते हैं। और परम्परा का वाहन समष्टि होती है। यों समष्टि-भेद का एक 'परम' बीज पुरुषार्थ-साधना में ही निहित है।

ऐसा भी नहीं लगता कि दृष्टि-भेद कोई आगन्तुक सी बात हो। यादृच्छिक। और यों अनावश्यक या निवार्य, क्योंकि स्वातन्त्र्य के हृदय में ही वैविध्य के द्वार हैं। स्वतन्त्र होना स्वैर होना न हो, पर स्वच्छन्द होना तो है ही। धर्म-भिन्न पुरुषार्थों में, जैसे ज्ञान में, यह बात स्फुट उभर कर आती है, और भाव में—कला में—और भी स्फुटतर।

धर्म में लगता है कि स्वतन्त्र होने का अर्थ ही अपने स्व-अर्थ को छोड़कर पर-अर्थ की ओर झुक जाना और परस्पर-भाव की 'एक' 'अभिन्न' व्यवस्था में अपने को ढाल लेना है, नहीं तो परस्पर-भाव ही क्या बनेगा? पर यह बात न्याय के लिए ही कही जा सकती है, और वासना-गर्भ आनृशंस्य के लिए भी। जहाँ 'समानता' पर दृष्टि रहती है। पर प्रभव की बात लीजिये। अभ्युदय की। प्रभव क्या हो यह दृष्टि-भेद की बात हो ही सकती है, क्योंकि प्रभव क्या हो इसके अन्तरंग में यह जिज्ञासा है कि पुरुषार्थ क्या हो। इसके बिना प्रभव की बात ही क्या? लेकिन चलिए प्रभव की साधना को हम वही मान लें जिसे हमने समानता की साधना कहा है—न्याय, वासना-पूर्त्ति। तो भी प्रस्थान-भेद उभरेंगे ही। रास्ता क्या हो, यह सवाल उठेगा। अभी पिछले सौ सालों के भीतर ही अकेले पश्चिम की सभ्यता ही में इसको लेकर कई 'वाद' उठ चुके हैं—कम्यूनिज्म, फासिज्म, कैपिटलिज्म—और उचित-व्यवस्था की साधना के नाम पर हिंसा का प्रकाण्ड ताण्डव होता ही रहा है। और यह सब 'धर्म-निरपेक्ष' हुआ है—यानी 'रिलिजन' को हम दोषी नहीं ठहरा सकते जिस पर अब तक ऐसे अपराध थोप देने का पश्चिम में चलन रहा है। अब

ज़ो शतक बीतने वाला है उसके 'कर्म' सेक्यूलर शक्तियों के ही कर्म रहे हैं। उन्हीं का चक्र-प्रवर्तन चला है। और चक्र-भेद।

पुरुषार्थ के अन्य क्षेत्रों में एक अकेले स्वतन्त्र आत्म के लिए भी साधना की सार्थकता बनी रहती है। ये साधनायें ही स्व-निष्ठ साधनायें हैं—एक ही आत्म हो तो भक्त हो सकता है, या ज्ञानी या कलाकार, और इन क्षेत्रों में प्रतिभा की अकेली सृजनमयी यात्रा कर सकता है। हाँ, हम कह सकते हैं कि परम्परा इनके लिए भी आधार होती है और परम्परा होने का अर्थ है किसी समष्टि का होना। यह ठीक है। होने को परम्परा होती है, हमारी कोई साधना परम्पराहीन नहीं है। यह तथ्य है। पर ज्ञान और भाव के क्षेत्र में समष्टि अनिवार्य नहीं है। 'अकेले की साधना', यह बात बेबात नहीं ठहरती।

पर धर्म के क्षेत्र में 'अकेले की साधना' का कोई अर्थ नहीं। दायित्व और न्याय में तो बात साफ ही है। पर अहिंसा को लीजिये। अहिंसा को अकेले की साधना समझा भी जाता रहा है। यह विजनचारी, एकान्तचारी ऋषियों-मुनियों की साधना है। अहिंसा का पालन कठोर-व्रत की माँग करता है। अहिंसा-व्रती पर से मुँह मोड़ कर कैवल्य की ओर मुड़ता है। पूर्ण अहिंसा-साधना की यह स्वरूप-गति ही जान पड़ती है। हिंसा से सर्वथा बचना हो तो पर के स्पर्श मात्र का त्याग करना होगा। स्पर्श भी प्राण-घातक हो सकता है। इसलिए अहिंसा के स्वतन्त्र साधक को अपने लिए ऐसा तन्त्र—ऐसी व्यवस्था बनानी पड़ती है कि वह चरम निवृत्ति साधे, दूसरों से दूर, और दूर हो जाये। कायोत्सर्ग करता केवली इसका प्रतीक है। अहिंसा साध रहा है। अहिंसा-व्रती अपने प्राण नहीं ले सकता। पर निरा 'एक' हो जा सकता है। जहाँ तक हो सके। यह आदर्श अहिंसा के स्वरूप में ही 'उपपन्न' सा जान पड़ता है।

यह सच्चा स्वातन्त्र्य भी जान पड़ता है। ऐसे तन्त्र में स्थिति, जहाँ निर्बाध स्व ही स्व हो, पर हो ही नहीं। जहाँ 'अनेक' से हट कर 'स्व' पूरी तरह 'एक' हो जाये। धर्म की दृष्टि से विडम्बना स्पष्ट है। पर दुधारी है विडम्बना। एक तो यह कि अन्य प्राणियों के बिना 'अहिंसा' का कोई अर्थ नहीं। अहिंसाव्रती सचमुच ही केवली हो, अन्य हो ही नहीं, तो न हिंसा की बात उठेगी न अहिंसा की। स्व-हिंसा की बात अगर हम अलग रख दें। अहिंसा की धारणा में ही 'अनेक' पूर्वगृहीत है। फिर दुसरी बात यह देखिये कि अहिंसा की साधना हम करते ही इसलिए हैं कि हममें दूसरे के प्रति भाव है—कृष्ण के शब्दों में 'अवध' या प्राण-रक्षण हमारा कर्त्तव्य है। पर विशुद्ध अहिंसा-व्रत इस भाव की इतिकर्त्तव्यता का नितान्त बाधक ही ठहरता है। उसका 'स्वातन्त्र्य' एक तरह से 'स्व-अर्थ' ही रह जाता है। परार्थ-भाव से बिलकुल रीता। अहिंसा-व्रत अध्यात्म का साधक हो सकता है। धर्म का नहीं।

इसीलिए युधिष्ठिर और कृष्ण ने अहिंसा परमो धर्मः का अर्थ आनृशंस्यः परो धर्मः लिया है। आनृशंस्य में अहिंसा 'अवध' के साथ 'प्रभव' या अभ्युदय का सम्पुट बनाती

है। आनृशंस्य भी एक तरह का व्रत कहला सकता है—स्वतन्त्र हो कर साधना का आदर्श है ही। लेकिन यह परार्थ-भाव में स्थित है। मैत्री में, करुणा में स्थित।

और सही तरह से आनृशंस्य का क्षेत्र तभी बनता है जब बात मानव-समष्टि की हो। अनेक स्वतन्त्रों के ऐक्य का क्षेत्र। धर्म जिस स्वातन्त्र्य को बनाये रखने की व्यवस्था साधता है वह साधना कुछ विचित्र सी है। सोचिये तो उलटबाँसी है—पर ऐसी उलटबाँसी जिसे हम जीते हैं, जिसे सत्य बनाये रखने की लौ—भावमयी श्रद्धा—अपने भीतर कहीं न कहीं जगाये रखते ही हैं। धर्म अनेक के स्वातन्त्र्य को साधता है। यहाँ व्याघात, या बाध कहिये, कहने में ही सिर उठाता है। अनेक का स्वातन्त्र्य भेद की साधना है—एक एक का भिन्न स्वातन्त्र्य। पर जो तन्त्र—व्यवस्था—हमें साधती है, वह अभेद का—परस्पर-भाव—का ही तन्त्र हो सकती है। धर्म की माँग यही है : वह एक और अनेक की स्वीकृति है। स्वीकृति ही नहीं वह अनेक के भेद को रखते हुए एक एक को अपने-आप में अधिक से अधिक स्वतन्त्र कर देने की साध है; साथ ही धर्म की मूलभूत श्रद्धा है कि अनेक में एक मूलग्राही, स्वरूपग्राही परस्पर भाव है—अभेद है। धर्म का तत्त्व जिस प्रेरणा पर टिका है उसीमें हम विरोध को जागता देख सकते हैं : दूसरा मुझसे भिन्न है भी और नहीं भी है। वह स्वतंत्र है, मेरी ही तरह स्वतंत्र है, पर उसे स्वतन्त्र रखना, उसके स्वातन्त्र्य को भूमा देना, मेरे ही सचमुच स्वतन्त्र होने का अभिन्न अंग है। लक्षण भी।

पर स्वातन्त्र्य सिद्धि नहीं है, साधना है। मेरी ही नहीं सबकी मिलकर साधना है। समष्टि की साधना है। और यही समष्टि के अनैक्य में दण्ड का वह बीज है जो धर्म के स्वरूप में ही आ पैठना चाहता है। उन बातों को ले आता है जिन्हें हम धर्म के औचित्य से बाहर समझते हैं। परस्पर भाव और स्वातन्त्र्य के वैरी वध, युद्ध, नीति, कपट ये उसी द्वार से धर्म की पंगत में आ बैठते हैं जिस द्वार से दण्ड आता है—स्वार्थ के लिए नहीं परार्थ के लिए हमें इन्हें धर्म का अंग बनाना पड़ता है। स्वार्थ के लिए दण्ड या नीति-प्रयोग की हम सहज निन्दा कर देते हैं। विरोध में दण्ड को 'न्याय' और यों धर्म्य कह लेते हैं। पर समष्टि की एषणा को, समष्टियों के परस्पर विरोध को तो 'स्वार्थ' में नहीं समेट सकते। न यह बात न्याय की परिधि में समाती है। पर धर्म की परिधि से बाहर भी नहीं हो सकती। यही अनहोनी होती हैं। धर्मबोध इसे भी अपने घेरे में लाना ही चाहता है। पर इसकी कोई विधि नहीं। यह कर्मशील के कौशल का, प्रतिभा का विषय है। इसलिए कृष्ण ने ठीक ही कहा है कि धर्मप्रज्ञा को किसी स्थिर तत्त्व या विधान से बाँधा नहीं जा सकता।

और इसीलिए धर्मप्रज्ञा का काम टेढ़ा होता है, विशेषकर राजा की धर्मप्रज्ञा का। दण्डनीति का ऐसा कुशल प्रयोग कि नीति उपाय ही रहे, उपेय न हो जाये। कृष्ण इसी मार्ग के साधक थे। पर यह साधना बात को कहीं आगे ले जाती नहीं दिखती। कृष्ण के बाद भी वहीं रह गई जहाँ तब थी। व्यास की धर्मदृष्टि में यही धर्म की ट्रैजेडी है। कृष्ण ने द्वारका में जिस समष्टि को रूप दिया था उसने कृष्ण के देखते-देखते ही अपना

विनाश साध लिया। अभी पिछले ही दिनों गाँधीजी ने 'आनृशंस्य' का विस्तार करते हुए विरोधी समष्टियों के परस्पर सम्बन्ध में भी नीति के स्थान पर धर्म की—अहिंसा और सत्य की—प्रतिष्ठा करने की साधना की। जिस समष्टि में उन्होंने यह साधा उसमें देखते देखते ही उनका मार्ग भी विलीन सा हो गया है—शायद कुछ पगडंडियाँ बची हों। पर ये पगडंडियाँ भी धर्म के स्वरूप में निहित ही हैं। नहीं तो धर्म की साधना ही नहीं हो सकती। पर ये धर्म की ट्रैजेडी को और उभार देती हैं।

साहित्य और संस्कृति *

यशदेव शल्य

पी-52, मधुबन कालोनी, टोंक रोड, जयपुर

साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध अवयव और अवयवी का-सा है, दो पृथक् वस्तुओं के बीच बाह्य प्रकार का नहीं। इस प्रकार इनके सम्बन्ध पर विचार का अर्थ होना चाहिए साहित्य में संस्कृति की अभिव्यक्ति के स्वरूप को समझना, एक प्रकार से, साहित्य के स्वरूप पर से संस्कृति के स्वरूप को भी, कम से कम अंशतः, समझना। किन्तु जब हम किसी वस्तु या तत्त्व के स्वरूप पर विचार करते हैं तब ऐसे लक्षणों को खोजते हैं जो उसके सब अंगों या उदाहरणों में समान हों, ऐसे लक्षणों को नहीं जो किसी या किन्हीं उदाहरणों में तो पाये जाते हों किन्तु सब में नहीं पाये जाते हों। किन्तु सर्वव्यापक लक्षण को पाये बिना हम किसी तत्त्व के व्याप्यों को कैसे जान सकते हैं? दूसरी ओर, व्याप्यों के सम्बन्ध में निश्चित हुए बिना व्यापक का स्वरूप भी कैसे समझा जा सकता है? उदाहरणतः यह निर्विवाद्य नहीं होगा कि 'संस्कृति' प्रत्यय का व्याप्य किस-किस को माना जाय। प्रौद्योगिकी और गणित को 'संस्कृति' के व्याप्य माना जाय या नहीं? यह अनिश्चय साहित्य, संगीत, धर्म तथा दर्शन को लेकर नहीं है। ये संस्कृति के मेरुदण्ड माने जाते हैं। किन्तु ऐसा क्यों है और इन सब में ऐसा सामान्य क्या है जो इन्हें 'संस्कृति' के समान रूप से उदाहरण बनाता है? फिर यह प्रश्न भी हो सकता है कि वह सर्वसामान्य गुण ही 'संस्कृति' का वाच्य है या कि ये सब अपने सब गुणों-धर्मों के साथ और इस प्रकार अपनी विशेषताओं के साथ संयुक्त रूप से 'संस्कृति' पद के वाच्य हैं? यदि यह दूसरी बात हो तो यह बात विचारणीय होगी कि इन विभिन्न विशेषताओं में ऐसा क्या सामान्य है जो इनका इनकी विशेषताओं के साथ धारण करता है?

सम्भवतः इसका उत्तर पाने के लिए संस्कृति के स्वरूप पर विचार करने से आरंभ करना आवश्यक होगा। किन्तु यदि हम अपनी परिभाषा देने से ही आरंभ नहीं करें तो पायेंगे कि इस सम्बन्ध में स्थिति काफी अस्पष्ट और अनिश्चित है।

किसी समाज की व्यापक रुचियों, अभिवृत्तियों, रहन-सहन की विधाओं को भी संस्कृति कहा जाता है, साहित्य, संगीत, दर्शन आदिगत विशिष्टताओं को भी संस्कृति कहा जाता है, और मूल्यों-आदर्शों आदि के संस्थान या व्यवस्था या व्यवस्थापक दृष्टि को भी संस्कृति कहा जाता है। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि इन सब की विशिष्टता संस्कृति की विशिष्टता होती है स्वयं से संस्कृति नहीं, जैसे संगीत की दो शैलियों में भेद संगीतगत शैली-भेद

* इलाहाबाद संग्रहालय के आमंत्रण पर अज्ञेय-व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 22.2.97 पढ़ा गया व्याख्यान।

होता है, स्वयं संगीत नहीं होता। यही बात संस्कृति के लिए भी है। यदि हाव-भाव, गति-चेष्टागत वैशिष्ट्य सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का द्योतक है तो संस्कृति हाव-भाव, गति-चेष्टा आदि मात्र को ही कहना होगा। किन्तु हाव-भाव आदि मात्र को संस्कृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये केवल व्यवहार मात्र होते हैं। ये मानसिकता के व्यंजक भी कहे जा सकते हैं, किन्तु इनका यह अर्थ भी इन्हें संस्कृति बनाने के लिए पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। ऐसा इसलिए क्योंकि तब साहित्य, संगीत, दर्शन आदि संस्कृति नहीं रहेंगे बल्कि इनकी अभिव्यक्ति की भंगी मात्र संस्कृति रह जाएगी। निश्चय ही हाव-भाव, भंगी, गति-चेष्टा आदि दैहिक से उत्तरवर्ती चित्सत्ता के संकेतक भी हो सकते हैं, किन्तु तब ये उन संकेतों के रूप में ही संस्कृति-सम्बद्ध कहे जा सकेंगे, स्वयं से नहीं। संस्कृति कम से कम चित् की मनस्तरीय सत्ता से सम्बद्ध कही जा सकती है, देह-स्तरीय सत्ता से नहीं। यहां 'कम-से-कम' विशेषण के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रश्न उठेगा, कि क्या यह मनस् से उत्तरवर्ती चित्सत्ता से भी सम्बद्ध हो सकती है?

यहां चित् की मनस् से उत्तरवर्तिता के अभ्युपगम पर आपत्ति की जा सकती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि बहुत से विचारक तो मनस् की सत्ता भी अस्वीकार करते हैं और केवल चित् की देहात्मक सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। यहां इस प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता, यहां केवल संक्षेप से यह दिखाया जा सकता है कि चित् के ये तीन स्तर : दैहिक, चैत्त और अतिचैत्त : मानना ही युक्तिसंगत है।

केवल देह की सत्ता मानने वाले वास्तव में 'चित्' या 'चेतना' शब्द के प्रयोग को भी विहित नहीं मानते। उनके सिद्धान्त का पूर्वगृहीत आधार यह मान्यता प्रतीत होती है कि अस्तित्व वस्तु और गुण-रूप होता है और ये दोनों इन्द्रियगम्य होते हैं। किन्तु मन अपने-आपसे न वस्तु-रूप में चक्षुगम्य है और न गुणरूप में, इसलिए इसका अस्तित्व नहीं है। इस पूर्वग्रह का स्पष्टतम संकेत आंग्ल दार्शनिक गिल्बर्ट राईल की पुस्तक **दि कान्सेप्ट ऑफ माइंड** में मिलता है जहां वह मन को 'मशीन में भूत' का नाम देता है। मशीन वहां देह की स्थानीय है और भूत मन का। अब देह स्पष्ट दिखायी देती है, मन तो दिखायी नहीं देता, किन्तु अविकसित बुद्धि वाला आदिम जातीय मनुष्य जैसे समझता है कि मशीन के भीतर कोई भूत है जो उसे चलाता है उसी प्रकार बहुत से अल्पबुद्धि दार्शनिक यह समझते हैं कि देह के क्रिया-कलाप का संचालन मन-संज्ञक किसी वस्तु से होता है। ऐसा आरोप लगाने में राइल उतने ग़लत भी नहीं हैं, क्योंकि यह भी सच है कि अधिकांशतः दार्शनिकों ने चेतना या मन या आत्मा को वस्तु-रूप में ही देखा है, यद्यपि स्वयं राइल देह को वस्तु और मन को उसका गुण मानकर उनसे भी अधिक ग़लत हो जाते हैं। किन्तु यदि देह को चित् की देहात्मक सत्ता और मन को चित् की मानस्, या कहें मनोमय सत्ता के रूप में देखा जाय तो न देह और मन को वस्तु या गुण रूप में देखना आवश्यक है और न चित् को। तब यह कहा जा सकता है कि "आहार, निद्रा, भय मैथुनं च" चित् की एक प्रकार की सत्ता है और पाक-कला और भयानक तथा शृंगारादि रसात्मक काव्य

चित् की दूसरे प्रकार की सत्ता, और इस दूसरे प्रकार की सत्ता में विजृंभित अर्थों की सार्थकता-निरर्थकता पर विचार और इस विचार के संकेतों के आभासों का बोध तीसरे प्रकार की सत्ता का संकेत। इस संकेतित सत्ता का स्वरूप संबोधि, ब्राह्म चैतन्य या पौरुषिक चैतन्य के रूप में कल्पित किया गया है। चित् की इन तीन अवस्थाओं को विषय-विषयी सम्बन्ध के तीन रूपों में भी देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध का एक रूप वह है जिसमें विषयी विषयसात् रहता है, एक वह जिसमें विषयी विषय को अपने से निष्कृत कर उसके माध्यम से अर्थ-भुवनों की सृष्टि करता है, और तीसरा स्तर वह जिसमें विषयी निष्कृत विषयों या अर्थ-भुवनों का उत्क्रमण कर अपने में अवस्थित होता है, अथवा कहें इन अर्थ-भुवनों या विषयों को आत्मसमाहित कर अवस्थित होता है। द्रष्टव्य है कि चित् के मनोमय स्तर में विषय-वृत्तिकता की ओर भी अभिमुखता हो सकती है और विषयातिक्रामिता की ओर भी। इनमें प्रथम अभिमुखता अर्थ-संभार या अर्थ-वैपुल्य के ह्रास की कारण होती है और द्वितीय अर्थ-संभार की समृद्धि की। यह बात सहज रूप में ही देखी जा सकती है और तर्कतः भी। उदाहरणतः आस्वाद के तटस्थ दर्शन की योग्यता पाक-कला और आस्वाद-संवेदन के विमर्श की हेतु बनती है और आस्वादवशवर्त्तिता पेटूपन की। विषय की विषयी से निष्कृति चित् के आत्मोन्मुख निवर्तन से सिद्ध होती है और इस निवर्तित चेतना को प्राप्त विषय अनवगाह्य अर्थों से गर्भित प्रत्यय होते हैं। उदाहरणतः पाशव चेतना के लिए सम्मुख प्रस्तुत पत्थर आवेगात्मक ससम्बन्धों का उद्दीपक हेतु मात्र होता है, इसके विपरीत निवर्तित चेतना के लिए सम्मुख प्रस्तुत पत्थर प्रस्तरत्व का एक उदाहरण होता है। इसके लिए पत्थर की कारकता पूर्णतः निरस्त रहती है। चेतना का यह दूसरा या मध्यवर्ती स्तर ही तृतीय स्तर की ओर उन्मुखता में संस्कृति का जनक होता है, इसकी प्रथम स्तर की ओर उन्मुखता संस्कृति की ह्रासक होती है। इनमें प्रथम चेतना की प्राकृतिक अवस्था है जिसमें चेतना विषयपरवश रहती है, दूसरी को आप चाहें तो सांस्कृतिक अवस्था कह सकते हैं, जिसमें चेतना विषय से अपने को निवर्तित कर उसके माध्यम से उन अर्थ-भुवनों का साक्षात्कार करती है जो अपनी विपुलता में असीम और अनवगाह्य होते हैं, और तीसरी को आप चाहें तो संबोधि, मोक्ष अथवा संन्यास की अवस्था कह सकते हैं, जिसमें चेतना विषयता को निरस्त कर अर्थ-भुवनों को अपने में समाहित कर लेती है, उन्हें आत्म-सम्पत् रूप में पा लेती है। यह तीसरी अवस्था सांस्कृतिक चेतना की साध्य, उसकी गन्तव्य कही जा सकती है और इस प्रकार यह संस्कृति से उत्तरवर्ती अवस्था कही जा सकती है, सांस्कृतिक अवस्था नहीं। यह तीसरी अवस्था कभी वास्तवता में सिद्ध होती है या नहीं, इस सम्बन्ध में हम यहां कुछ नहीं कहना चाहेंगे, किन्तु चेतना की दूसरी अवस्था तीसरी को अनिवार्यतः लक्षित करती है और उसी से अपने अर्थ-भुवनों की विपुलता पाती है, यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है। किन्तु यहां यह बात विचारणीय हो सकती है कि सांस्कृतिक मानव का साध्य अर्थ-भुवनों की सृष्टि मात्र ही होना चाहिए और अतिक्रान्तता को उसकी विपुलता के क्षितिज के रूप में ही रहना चाहिए या कि उसे अतिक्रान्तता को

ही लक्षित करना चाहिए और अर्थ-सृष्टि का अतिक्रमण ही साधना चाहिए? दूसरे शब्दों में, लक्ष्य संबोधि ही होना चाहिए और उसकी सिद्धि के लिए परम संन्यास का जीवन ही अपनाना चाहिए या कि साहित्य, संगीत, वास्तु, शिल्प, विज्ञान और दर्शन का विस्तार ही करना चाहिए और इनकी विपुलता को ही साधना चाहिए? दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थ केवल काम, अर्थ या धर्म ही होने चाहिएं और मोक्ष को केवल इन-इन अर्थों के माध्यम से इन-इनकी पर्यन्तता के रूप में ही साध्य रहना चाहिए या कि अपनी शुद्धता में मोक्ष ही को साध्य होना चाहिए और काम, अर्थ और धर्म को पुरुषार्थ के रूप में नहीं बल्कि मोक्ष-मार्ग के पड़ावों के रूप में ही रहना चाहिए? हमारे देश के उन दर्शनों ने, जिनका विषय जीवन के साध्य का विचार रहा है, अर्थात् सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों ने, संस्कृति को अनात्म, उत्क्रमणीय, अतिलंघनीय के रूप में ही देखा है और हमारी संस्कृति ने इसी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि के रूप में स्वीकार किया है, जबकि साहित्य और अन्य ललित कलाओं को इसने अर्थ, काम और धर्म-मूलक अर्थों की विपुलता की सिद्धि के रूप में ही भजा है—"काव्य, शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छित धीमतां"जैसी उक्तियों के बावजूद।

यहां यह उल्लेखनीय है कि अर्थ और काम विपुलार्थता की अनन्त संभावना से गर्भित रूप में ही पुरुष के भजने योग्य, पुरुषार्थ होने योग्य बनते हैं, स्वयं से नहीं, स्वयं से ये केवल आवेगात्मक चित्त के प्रेरक होते हैं।

मानव-चेतना के स्वभावतः आत्मचेतन और इस प्रकार विषय-निर्धारक होने से वह विषयों का स्वतंत्र अर्थ-ग्रहण करने के योग्य तो सदैव होती है किन्तु उसकी अर्थावगाहकता उसके विषय से स्वातन्त्र्य की सापेक्ष होती है, विषय-पारतन्त्र्य उसके लिए दृष्टि-अवरोधक ही होता है। विषयों के प्रति भोगात्मक या आवेगात्मक वृत्ति चित्त की विषय-परतंत्रता की वृत्ति है। कलाओं, विज्ञान और दर्शन में चित्त न्यूनाधिक स्वातंत्र्य में ही रहता है, किन्तु कभी-कभी नहीं भी रहता। उदाहरणतः दर्शन में वह पूर्वाग्रही हो सकता है, विज्ञान में किसी विज्ञानेतर भोगात्मक या आवेगात्मक प्रयोजन से प्रेरित हो सकता है, और कलाओं में कामुकता के प्रखरतर संतोष के लिए प्रवृत्त हो सकता है। ऐसा बहुधा देखने में आता है। अर्थ और काम का यह अनुसरण पुरुषार्थक अनुसरण नहीं है और इस वृत्ति में रची गई रचनाएं सृजनात्मक और सांस्कृतिक रचनाएं नहीं कही जा सकतीं। इनमें विषय चेतना के लिए अपने अर्थों का उद्घाटन नहीं करते। इस प्रकार यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य और अन्य कलाएं, विज्ञान तथा दर्शन उसी सीमा तक सफल और स्वरूपवान् हो सकते हैं जिस सीमा तक ये चेतना के स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठित होते हैं और उसी अवस्था में ये पुरुषार्थक और सांस्कृतिक कर्म भी कहे जा सकते हैं। विशिष्ट कृतियां इस प्रतिमान पर कहां तक पूरी उतरती हैं, यह एक दूसरी बात है। किन्तु इन संस्कृतिकर्मियों में साहित्यिक की स्थिति अन्यों से कुछ भिन्न होती है। इसका विषय भोगात्मक चित्त, और अधिकांश में भोगात्मक संसार ही होता है। कथा-साहित्य मनुष्य के सुख-दुःख,

कलह-क्लेश, प्रेम-द्वेष, मिलन-विरह का अन्तर्विमर्श प्रस्तुत करता है और गीत, कविता और खण्ड-काव्य अधिकांशतः कवि के मनोभावों का। कोई तुलसीदास कभी धर्म-संस्थापन को लक्ष्य कर भी कथा-रचना में प्रवृत्त हो सकता है और कालिदास रघु-कुल की कथा के रूप में ऐसे जीवन का परिदृश्य प्रस्तुत कर सकता है जिसमें सब अर्थ धर्म-परिष्कृत आधार में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु काव्य की दृष्टि से 'कान्ताविरहगुरुणा खिन्न' ऐसे यक्ष की कथा भी उतनी ही सफल है जो कामासक्ति से आगे किसी अर्थ को नहीं जानता और ऐसे जयशंकर प्रसाद की विरह-व्यथा भी जिसके मस्तिष्क में 'घनीभूत पीड़ा' 'परिरंभ-कुंभ की मदिरा' और 'निश्वास-मलय के झोंकों' की स्मृति के कारण छायी हुई है। निश्चय ही **मेघदूत** एक महान साहित्यिक कृति है, क्योंकि यह प्रकृति के सौन्दर्य को अद्‌भुत मार्मिकता और कुशलता से शब्द-चित्रों के माध्यम से व्यक्त करती है। कालिदास सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति भी अत्यधिक संवेदनशील हैं और इस कारण सहज में और मार्मिक रूप से उनका उपयोग करते हैं। जैसे **मेघदूत** के पहले ही श्लोक में—रामगिरि के जलों को 'जनक तनया-स्नान से पुनीत' कहने में देखा जा सकता है। किन्तु **मेघदूत** की कथा-रचना एक विरही की दुःख-व्यथा मात्र तक ही सीमित है। यह व्यथा अपने अर्थ-संभार में बहुत समृद्ध भी हो सकती है और दरिद्र भी, उदाहरणतः भवभूति के **उत्तररामचरितम्** की कथा मर्यादापुरुषोत्तम और धीरोदात्तों में श्रेष्ठतम नायक के कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व से उपजी व्यथा की कथा होने से सहज ही महद् अर्थों से मंडित हो जाती है और इसके विपरीत यक्ष की कथा केवल तभी अर्थ-संभार से विपुलित हो सकती है यदि कवि शारीरिकता से मुक्त होकर हृदय की अन्तर्गुहाओं में प्रविष्ट हो जाय और उनके तल में से अर्थों का संचय कर सके। द्रष्टव्य है कि यह संचय उतना ही समृद्ध हो पाता है जितना कवि द्वारा उनके लिए उपयुक्त व्यंजनाओं का साक्षात्कार संभव हो पाता है। ये दोनों प्रकाश और विमर्श-रूप में परस्पर अवियोज्य तथा संपृक्त होते हैं। कालिदास ने इन्हें ही वाक् और अर्थ कहा है। अब, राम की विरह-कथा और किसी प्रकार की हो ही नहीं सकती जबकि यक्ष की विरह-कथा केवल शारीरिक स्तरीय स्मृतियों की कथा भी हो सकती है। यहां यह कहना अभिप्रेत नहीं है कि विरह-व्यथा केवल मर्यादापुरुषोत्तम की ही विपुलार्थक हो सकती है। अर्थ-विपुलता की सिद्धि के लिए कवि का केवल भावना-लोक में निविष्ट होकर उसका विमर्श करना ही अपेक्षित होता है, शेष उसकी चेतना की उज्ज्वलता, अथवा कहें प्रतिभा की निर्मलता पर निर्भर करता है।

किन्तु जैसाकि हमने देखा, काव्य और अन्य कलाएं केवल प्रेम के प्रसंगों से बँधी रहें, यह आवश्यक नहीं है, वे उससे निकलकर जीवन के सभी पक्षों को भी अपना विषय बना सकती हैं और उन पक्षों के अर्थों को विपुल और गहन बना सकती हैं। किन्तु काव्य और अन्य कलाओं का मुख्य विषय काममूलक अर्थों का विमर्श ही रहा है और इन अर्थों का विमर्श वे ही कर सकते हैं, दर्शन और शास्त्र आदि विमर्श की दूसरी विधाएं नहीं।

इनमें भी काव्य, भाषा के माध्यम के कारण, जितनी गहराई और विस्तार में जा सकता है उतना अन्य कलाएं नहीं।

यहां यह प्रश्न स्वाभाविक होगा कि कामपरक अर्थों का विमर्श केवल काव्य और अन्य कलाओं में ही क्यों हो सकता है दर्शन, विज्ञान या अन्य शास्त्रों में क्यों नहीं? यहां वात्स्यायन के **कामसूत्र** की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है जो केवल कामविषयक ही है और शास्त्र है। इसी प्रकार पाकशास्त्र होता है, जिसका विषय भी काम ही का एक अंग होता है। किन्तु **कामसूत्र** इस बात का एक प्रमाण ही प्रस्तुत करता है कि काम-मूलक अर्थ शास्त्र के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि ये अर्थ विषयितापरक विमर्श के लिए ही समुचित रूप से गम्य हो सकते हैं, विषयतापरक विवरण और वर्गीकरण के लिए नहीं। शरीर-क्रियाविज्ञान, रसायनविज्ञान, मनोविज्ञान और काम-कलाशास्त्र इनमें से कोई भी, या ये संयुक्त रूप से भी, प्रेम के अर्थ का स्पर्श भी नहीं कर सकते उसकी अतल गहराइयों को तो ये कहां से पायेंगे। प्रेम का यह अर्थ कितना विपुल है इसे इससे देखा जा सकता है कि असंख्य काव्य, उपन्यास आदि और राग-रागिनियां तथा चित्र आदि इसका अवगाहन और बखान करके भी इसके पारावार से रत्नों और मणियों को निश्शेष नहीं कर सके। ये अर्थ दैहिकता से उठकर चित् के मनोमय स्तर पर अतिक्रामी संकेतों से गर्भित होकर ही आविर्भूत हो सकते हैं।

इसी प्रकार पाकशास्त्र केवल पाक-कला का सांकेतिक रूप होता है जिसका अपना कोई अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार मनोविज्ञान मनोवृत्तियों की कारण-कार्य-व्यवस्था की सूचना देता है, उनके नियोजन की विधि भी बता सकता है, किन्तु उनके अर्थों का संस्पर्श नहीं कर सकता। केवल दर्शन इन अर्थों का उनकी विषयता के पक्ष से अवगाहन कर सकता है, यद्यपि उतनी पर्याप्तता के साथ नहीं जितनी पर्याप्तता के साथ यह धर्म और मोक्षपरक अर्थों का कर सकता है। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि दर्शन यह विमर्श और अवगाहन केवल तभी अधिकृत रूप से कर सकता है यदि उसमें इन अर्थों की विषयिता का संस्पर्श भी, कम से कम प्रतिभात्मक कल्पना के द्वारा, साथ रहे। काम-मूलक अर्थों की यह विषयता वास्तव में विषयी आत्मा की ही आत्मप्रत्यय के रूप में घटित विषयता होती है, उद्ग्रहणात्मक या शब्द-विकल्पित विषयता नहीं। किन्तु द्रष्टव्य है कि दार्शनिकों ने इन अर्थों को प्रायः कभी मीमांस्य नहीं बनाया, भक्ति को बनाया तो धर्म के पक्ष से, काम के पक्ष से नहीं। साहित्य और कला का अर्थ-विमर्श विषयिता के पक्ष से ही होता है[1] और काम-मूलक अर्थ उपयुक्त रूप से इसी पक्ष से गम्य होते हैं। यदि कहा जाय कि काम-पुरुषार्थ की साधना का एकमात्र साधन कलाएं ही होती हैं और इनमें साहित्य में इन अर्थों की विपुलता अन्य कलाओं की तुलना में बहुत अधिक होती है, तो यह ग़लत नहीं होगा।

किन्तु साहित्य केवल काम-पुरुषार्थ को ही विमृश्य नहीं बनाता, वह सभी पुरुषार्थों को विमृश्य बनाता है और जो कवि जितना ही महान् होता है उसकी संवेदना और दृष्टि उतनी

ही व्यापक होती है। ऊपर हमने जयशंकर प्रसाद के **आंसू** काव्य का उल्लेख किया था, किन्तु उनका **कामायिनी** काव्य भी है जो एक समग्र जीवन-दृष्टि को ही लक्षित करता है, फिर उनकी अनेक कविताएं, कहानियां, नाटक और उपन्यास भी हैं जिनमें जगत् और जीवन के सभी पक्ष कवि की संवेदना में अपने गुह्य अर्थों को प्रकाशित करते हैं। दृष्टि की यह व्यापकता और क्रान्तदर्शिता और इन्हें काव्यात्मक बनाने वाली विमर्शशालिनी संवेदना ही किसी व्यक्ति को महान् कवि बनाती है और समाज उस कवि को अपना सांस्कृतिक प्रतिनिधि मानता है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति को जितनी गहराई से **वाल्मीकीय रामायण, महाभारत** और **रामचरितमानस** ने रचा और आधार तथा बल दिया उतना संभवतः अन्य किसी कृति ने नहीं। इनकी तुलना में केवल बुद्ध, महावीर, गाँधी और अन्य कुछ कृती जीवनों को ही रखा जा सकता है। निश्चय ही ये तीन कृतियां अपवाद कही जा सकती हैं, किन्तु कालिदास की कृतियां भारतीय मानस को उसकी समग्रता में, भक्त कवियों की कविताएं भारत के धार्मिक मानस को और अन्यान्य कवियों की कविताएं समाज-मानस के अन्यान्य पक्षों के अर्थों को अभिवर्धित और अभिसंस्कृत करती देखी जा सकती हैं। इस बात को यदि यूं कहा जाय कि भारतीय समाज को उसकी संस्कृति में प्रतिष्ठित रखने और दीक्षित करने का कार्य ये कवि करते रहे हैं तो संभवतः अधिक सही होगा। ये ऐसे कवि हैं जो सर्वविदित हैं। किन्तु दूसरी ओर लोक-काव्य है, जिसकी रचना एक प्रकार से व्यक्ति नहीं कर समाज ही करता है और इसके द्वारा समाज प्रतिक्षण और प्रतिपद अपने को अर्थ देता, उन अर्थों का विवेचन करता और उनके द्वारा अपने को नवीकृत करता रहता है। महान् कवि इन अर्थों को महत् गहराई और महत् विस्तार देते हैं, इसी अर्थ में वे महान् होते हैं।

द द द

इस दृष्टि से आधुनिक भारत में अज्ञेय का एक पर्याप्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक भारत के हिन्दी-क्षेत्र को जिन कवियों ने सबसे अधिक आधार और संस्कार दिया है उनमें मैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला और अज्ञेय को देना चाहूँगा। इनके साथ कुछ उपन्यासकार भी गिने जा सकते हैं, किन्तु इस विधा में भी अज्ञेय का स्थान नगण्य नहीं है। यहां यह द्रष्टव्य है कि भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी प्रेमचंद का कृतित्व भारत को उसकी संस्कृति में धारण करने में अधिक कहा जा सकता है, प्रसाद और निराला का उसकी नये अर्थों की खोज को प्रेरित और गहराई देने में। अज्ञेय इस दूसरे वर्ग के कवियों में श्रेष्ठतम नहीं तो कम-से-कम सर्वश्रेष्ठ कुछेक में से एक तो माने जा ही सकते हैं। वे आरंभ से ही भाव और बोध के नये मार्गों के अन्वेषक और उनको प्रतिष्ठा देने में संघर्ष-रत रहे। उनके **शेखर : एक जीवनी** और **नदी के द्वीप** उपन्यासों में भी नये अर्थों का दर्शन और उपन्यास-रचना के नये रूप का सर्जन होते देखा जा सकता है। नये की इस खोज में वे **अपने-अपने अजनबी** उपन्यास में इतने आगे जाते दिखाई पड़ते हैं जिसमें उनकी आधारभूमि ही छूट गई लगती है। सौभाग्यवश

वे जल्दी ही अपनी इस दिग्भ्रान्ति के प्रति सचेत हो गए, किन्तु यह उपन्यास उनकी खोज के मार्ग, भटकाव और उससे चेतने का ऐसा निदर्शक है जैसी उनकी और कोई कृति नहीं है। यह उपन्यास उस समय फैशन में आयी विचारधारा अस्तित्ववाद के अपच प्रभाव में लिखा गया था। पश्चिम के प्रति आकर्षण आरंभ में अज्ञेय में वैसा ही था जैसा उस और इस समय के अधिकांश साहित्यिकों में है। उस समय अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद फैशन में थे और सभी साहित्यिक उनके पर्चम फहराकर अपनी प्रामाणिकता स्थापित करते थे। अज्ञेय जी दूसरों से इस बात में भिन्न थे कि जबकि वे इन विचारों को न्यूनाधिक समझते थे, दूसरे साहित्यिक इनकी कोई समझ नहीं रखते थे। किन्तु अज्ञेय भी अस्तित्ववाद को, जिससे वे एक समय काफी प्रभावित थे, इतना नहीं समझते थे कि उसके गुणावगुण की जाँच कर सकते। यह बात मैं उनके लेखों के आधार पर कह रहा हूँ। **नदी के द्वीप** के नायक भुवन और नायिका रेखा की संवेदनाएं भी पाश्चात्य विचार और काव्य से ही अभिसंस्कृत थीं, जैसी कि उन अधिकांश भारतीयों की हैं जो शिक्षित हैं। हिन्दी साहित्य में यह स्थिति आज भी है, किन्तु अज्ञेय जी पीछे न केवल इससे निकल आये थे बल्कि उन्होंने अपने पिछले काव्य में भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों को अद्‌भुत सृजनात्मक अभिव्यक्ति दी है। सृजनात्मकता से मेरा अभिप्राय है "एक आत्मप्रतिष्ठ, आत्मप्रामाणिक, आत्मअव्यवहित चित्त का भाव।" इस काव्य में चित्त का यह भाव एक ऐसे बोध से सम्पन्न था जिसमें सृष्टि देव-तत्त्व से अभिनिविष्ट थी और हृदय ईश्वरतत्त्व की सन्निधि में था। यह भाव और बोध 1959 से बाद की उनकी कविताओं में प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। उदाहरणतः **आंगन के पार द्वार** संग्रह की कविता 'भीतर जागा दाता' देखें। उसमें वैदिक ऋषि के यज्ञ-तत्त्व के साक्षात्कार का नवसाक्षात्कार देखा जा सकता है :

मतिमाया
सागर लहराया।

. . . .

दूर धुँधला किनारा
झूम झूम आया, डगमगाया किया।
मेरे भीतर जागा/दाता:/बोला:/लो, यह सागर मैंने तुम्हें दिया।

. . . . . .

मेरे भीतर जागा/दाता:
और मैंने फिर नीरव संकल्प किया :
लो, यह हरी-भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु/मैंने
तुम्हें दी :
आकाश भी तुम्हें दिया :
यह बौर, यह अंकुर, ये रंग, ये फूल, ये कोंपलें,

ये दूधिया कनी से भरी बालियां,
ये मैंने तुम्हें दीं : . . .
सब/तुम्हें/दिया।

वस्तुमात्र में ईश की व्याप्ति और उससे तादात्म्य के भावन से उपजे आनंद की ऐसी अभिव्यक्ति अन्यत्र अलभ्य होगी। इसमें वैदिक यज्ञ-दृष्टि का बोध भी लक्षित होता है। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की विशिष्ट दृष्टि इस कविता में जैसे कवि के अपने साक्षात्कार के माध्यम से व्यंजित हुई है उसकी तुलना अन्यत्र मिलना कठिन होगा। इसकी एक दूसरी व्यंजना 'एक प्रश्न' कविता में देखें—

जिन आंखों को तुमने गहरा बतलाया था
उनसे भर-भर मैंने
रूप तुम्हारा पिया।
जिस काया को तुम रहस्यार्थ से भरी बताते थे
उसके रोम-रोम से मैंने
गान तुम्हारा किया।
जो प्यार—कहा था तुमने ही—है सार-तत्त्व जीवन का,
वही अनामय, निर्विकार, चिर सत्त्व
मैंने तुम्हें दिया।
यों/तुमसे पायी ज्योति-शिखा के शुभ्रवृत्त में
मैंने अपना/पल-पल जलता जीवन जिया :
पर तुमने—तुम, गुरु, सखा, देवता!/तुमने क्या किया?

इसे एक प्रेम-कविता भी कहा जा सकता है, किन्तु औदात्य के उस स्तर पर उठी हुई जिस पर पहले उद्धृत कविता भी है। वह दान बाहर प्रकृति-रूप में उन्मिषित आत्मा का है और यह अपने ही भाव में विभोर आत्मा का; और आत्मा ही को दान, उस आत्मा को जो आत्मदान के संकल्प का आनंद पाने के लिए इतर बनी है।

अब वाक् तत्त्व का एक विवेचन देखें—वैखरी वाक् में तत्त्व की अनभिलाप्यता और परावाक् में उस तत्त्व के आत्मप्रकाशन के अर्थ का अद्‌भुत विमर्श। इस कविता का शीर्षक है 'चिड़िया' :

मैंने कहा/कि 'चिड़िया' : /मैं देखता रहा—/चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर-फिर देखा/फिर-फिर बोला,/'चिड़िया'/चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर—जाने कब—/मैंने देखा नहीं :/भूल गया था मैं क्षण-भर को तकना!—
मैं कुछ बोला नहीं—खो गई थी क्षण-भर को स्तब्ध-चकित-सी वाणी,
शब्द गये थे बिखर, फटी छीमी से जैसे/फटकर खो जाते हैं बीज
अनयना रवहीना धरती में/होने को अंकुरित अजाने—

तब—जाने कब—/चिड़िया ने ही कहा/कि 'चिड़िया'।/चिड़िया ने ही देखा/वह चिड़िया थी।

चिड़िया/चिड़िया नहीं रही तब से :/मैं भी नहीं रहा मैं/कवि हूँ!

कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।

कहीं बड़े गहरे में/सभी स्वैर हैं नियम,/सभी सर्जन केवल

आंचल पसार कर लेना।

इस कविता की अंतिम पंक्ति में 'सृजन' की व्याख्या द्रष्टव्य है—सत्य का साक्षात्कार। सृजन की यही व्याख्या मैंने गतवर्ष फरवरी में यहां प्रस्तुत व्याख्यान में की थी। किन्तु यहां उस व्याख्या ने काव्य-भाषा में जो मुखरता पायी है वह दर्शन की भाषा के लिए अलभ्य है।

इसी संग्रह के 'चक्रान्त शिला' खंड में एक कविता है जिसकी प्रथम पंक्ति है "अरी ओ आत्मा री" (कविता संख्या 12) इसकी प्रथम तीन पंक्तियां कबीर की कविता "दुलहन गावहु मंगलाचार, म्हारे घर आयहु राजा राम भतार" की याद दिलाती हैं। किन्तु यहां कबीर के अत्यन्त सजीव मूर्त बिम्बों का स्थान उतने ही सजीव अमूर्त बिम्ब ले लेते हैं। एक और भेद है, कबीर की कविता में जहां पूरी में एक उत्सव का आनंद है इसमें एक हल्की व्यथा की छाया है। देखें—

अरी ओ आत्मा री,/कन्या भोली क्वाँरी/महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं।

जा आत्मा, जा/कन्या—वधुका—/उसकी अनुगा,/वह महाशून्य ही अब तेरा पथ,

लक्ष्य, अन्न-जल, पालक, पति,/आलोक, धर्मः/तुझको वह एकमात्र सरसायेगा।

ओ आत्मा री/तू गयी वरी,/ओ संपृक्ता,/ओ परिणीता,/महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं।

इस खंड के बाद एक लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' है जिसमें परावाक्-भूत बुद्ध के स्वरूप का, अथवा कहें चेतना की संबोधि-अवस्था का मूर्त बिम्बों में अद्‌भुत अर्थोन्मेष है।

ऐसा नहीं है कि अज्ञेय जी की 1959 के बाद की सारी कविताएं इसी भाव-भूमि पर से लिखी गई हैं, किन्तु इस काल के काव्य में उनका चित्त विश्व में व्याप्त, विश्व की प्रतिष्ठापक और कवि-हृदय में स्पन्दित आत्मा में अधिक रमता था। इसके समर्थन में **सदानीरा—2** से कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहां मैं केवल दो उदाहरण और दूँगा। पहला 'उधार' शीर्षक कविता है। वास्तव में इसे 'भीतर जागा दाता' कविता का ही प्रतिबिंब भी कहा जा सकता है। कवि धूप से, चिड़िया से, घास की पत्ती से, शंखपुष्पी से, हवा से, लहर से, आकाश से. . सबसे उधार मांगता है। इनसे वह जो मांगता है और जिन शब्दों में मांगता है उसकी भी महिमा अद्‌भुत है। और उसके बाद कहता है—

सबसे उधार मांगा, सबने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ/क्योंकि यही सब तो है जीवन--
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,/गन्धवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,/और बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का:
ये सब उधार पाये हुए द्रव्य।

क्या इसमें "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजीथा" मंत्र में व्यक्त आर्ष साक्षात्कार कवि की अनुभूति में अपने अर्थों के वैभव का समृद्ध और स्फुट प्रत्यक्ष करता दिखायी नहीं देता?

अब, एक प्रकार से अज्ञेय जी की **नदी के द्वीप** कृति में काम-मूलक अर्थों का ही विमर्श हुआ है। उस विमर्श में वे कितनी गहराई और विस्तार में जा पाये हैं, उनकी दृष्टि कहां तक सम्यक् है और कहां तक असम्यक्, यह उनकी इस कृति की सफलता और महत्ता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। किन्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी होता है कि किसी कृति में किस पुरुषार्थ का विमर्श हुआ है और उसकी चिद्भूमि क्या है। उदाहरणतः **श्रीमद्भगवद्गीता** की महत्ता उसकी अर्थगर्भता और उन अर्थों की समर्थ अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति की व्यंजकता में तो है ही, उस अर्थ की भूमि में भी है। यही बात **रामचरितमानस** के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। काम का पुरुषार्थ-रूप में अनुसरण जीवन को पाशव से मानव का स्तर देता है, इसी प्रकार उसका काव्य में विमर्श भी उसे विमर्श की गुरुता और गहनता के अनुसार गुरु और गहन बनाता है, किन्तु धर्म का पुरुषार्थ-रूप में अनुसरण निश्चय ही उसके अनुसर्त्ता को महत्तर बनाता है और इसी प्रकार उसका विमर्श काव्य को भी बनाता है। मोक्ष पुरुषार्थ का अनुसरण तो महत्तम है और परिणामतः उस अर्थ का विमर्श भी।

इसके प्रतिवाद में कालिदास और शेक्सपीयर को प्रस्तुत किया जा सकता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि शेक्सपीयर को टाल्स्टाय ने उत्कृष्ट कवि के रूप में नहीं आंका है। शेक्सपीयर की महत्ता काम और अर्थपरक पुरुषार्थों के विमर्श की सूक्ष्मता, जटिलता और गहनता में निश्चय ही अद्वितीय है किन्तु जिस प्रकार एक लोकान्वेषी समृद्धतम जीवन भी बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस या गाँधी के समकक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार काम और अर्थ-पुरुषार्थों का अनुध्यायी काव्य भी धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों के अनुध्यायी काव्य से तुलनीय नहीं हो सकता। अज्ञेय जी अपने उत्तरवर्ती काव्य में एक उच्चतर आध्यात्मिक चिद्भूमि पर उठ पाये हैं, उनके विमृश्य मोक्षपरक अर्थ बने हैं, यह बात उनके काव्य को इस बात से अलग महत्ता देती है कि उन अर्थों का विमर्श कितना सूक्ष्म और कितना कुशल है।

ऊपर हमने चार पुरुषार्थों की बात की है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थ इन चार ही प्रकारों के हैं। अर्थों के अनेक प्रकार हैं और आगे इन प्रकारों के अन्तर्गत उनकी अनेक छायाएं और रूप हैं। उदाहरणतः पुरुषार्थों के चार प्रकारों के विपरीत रसों

के दस प्रकार हैं और ये भी अनुभूति के सभी रूपों का निश्शेषतः आकलन नहीं करते। विचार इन पुरुषार्थों पर विषयता के पक्ष से विमर्श करता है काव्य इनका विमर्श विषयिता के पक्ष से करता है। ये सब अर्थ पुरुषार्थ इसलिए हैं क्योंकि ये पुरुष को, उसकी चेतना को, समृद्ध बनाते हैं। अर्थों का यह उन्मेष और इनकी एष्यता-अनेष्यता का विवेक, यही वास्तव में संस्कृति है और अर्थों के विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण आयाम होने से साहित्य संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो जाता है।

किन्तु अब यहाँ एक आधारभूत प्रश्न है जो स्वयं संस्कृति की पुरुषार्थता से सम्बन्ध रखता है। पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इस कारण से नहीं कि भारतीय संस्कृति ने इसे परम पुरुषार्थ माना है बल्कि इस रूप में भी कि स्वयं अर्थों की विपुलता उनकी अतिक्राम्यता को प्रकट करती है, और दूसरे, इन अर्थों का अन्वेषण बहुत बार अपनी सार्थकता में सन्देह उत्पन्न करता है। यद्यपि अर्थों की अतिक्राम्यता और उनकी सार्थकता की सन्दिग्धता एक ही बात नहीं है : प्रथम जबकि अर्थों के उन्मेषक मूल में अधिस्थिति और उस मूल का द्रष्टृत्व है दूसरा उस उन्मेष-व्यापार की सार्थकता में सन्देह। किन्तु इनमें एक तारतम्य भी है। अर्थों की अतिक्राम्यता उनकी स्वकीय अपर्याप्तता की द्योतक होती है, परिणामतः उनका उनके अपने लिए अनुसरण भ्रांतिमूलक ही सिद्ध हो सकता है। अब, संबोधि जबकि अर्थों की आत्मपर्यन्तता के अतिक्रमण में है, अर्थों की दुःखस्वरूपता का बोध उनकी अनन्वेष्यता का बोध है। यही बोध कबीर द्वारा मृत्यु को आनंद का द्वार मानने में और पतंजलि द्वारा चित्तवृत्तियों को निरोध्य देखने में है। किन्तु इस बोध की सिद्धि तो साहित्य, संगीत और दर्शन आदि के विलयन में ही सिद्ध होगी और परिणामतः संस्कृति के विलयन में भी।

सम्भवतः इसका समाधान यही हो सकता है कि संस्कृति का और इस प्रकार साहित्य, दर्शन आदि का भी, अन्तिम लक्ष्य आत्मविलयन की यह सिद्धि ही है। किन्तु क्या साहित्यकार और दार्शनिक इस समाधान को स्वीकार करेंगे?

सन्दर्भ

1. इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य हमारी निम्न पुस्तकों में कला विषयक अध्याय :
   1. चिद्विमर्श, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, तथा मूल्यतत्त्व मीमांसा। प्रथम तथा तृतीय पुस्तकें दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर द्वारा तथा द्वितीय भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

उन्मीलन-गोष्ठी
विषय : साहित्य और संस्कृति

(इलाहाबाद संग्रहालय के आमंत्रण पर जब मैंने "साहित्य और संस्कृति" विषय पर व्याख्यान लिखने का विचार किया तब पुरुषार्थों के स्वरूप और साहित्य के उनसे सम्बन्ध को लेकर कुछ अनपेक्षित प्रश्न मेरे सम्मुख प्रस्तुत हुए। तभी 'उन्मीलन-गोष्ठी' की बैठक हुई जिसमें एक दूसरे विषय (अन्यत्व) पर मुझे ही कुछ कहना था। किन्तु मैंने उसके बजाय "साहित्य और संस्कृति" विषयक ये प्रश्न ही गोष्ठी में विचारार्थ रखे। इस गोष्ठी में हुए विचार-विमर्श का विवरण, जो डॉ. मुकन्द लाठ ने लिखा था, इस अंक में दिया जा रहा है। लेख लिख लेने के बाद मैंने विचार किया कि यदि कुछ साहित्य-मर्मज्ञ और साहित्य-सर्जक लोग भी इन प्रश्नों पर अपने विचार की बढ़त दें तो बहुत सुन्दर होगा और तब मैंने श्री अशोक वाजपेयी, श्री निर्मल वर्मा, डॉ. कपिला वात्स्यायन, डॉ. रमेशचन्द्र शाह, प्रोफेसर सिद्धेश्वरप्रसाद, डॉ. मुकुन्द लाठ तथा श्री मदन सोनी को ये 'बढ़तें' लिखने का अनुरोध किया। इन सब ने लिखने के लिए अपनी स्वीकृति दी किन्तु केवल तीन से ही अभी तक उनके लेख प्राप्त हो सके हैं जो इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। आशा है शेष से भी उनके लेख प्राप्त हो जाएंगे और वे हम अगले अंक में प्रकाशित कर सकेंगे। अन्य भी यदि कोई इस 'आलापचारी' में भाग लेना चाहें तो उनका भी स्वागत होगा। मैं सबका उत्तर अगले अंक में दूंगा।)

यशदेव शल्य

'उन्मीलन-गोष्ठी' की यह बैठक फरवरी के आरंभ में किसी समय शल्यजी के घर पर हुई। इसमें निम्नलिखित ने भाग लिया—

प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. नन्दकिशोर शर्मा, प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ॰ कन्हैयालाल शर्मा, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ भगवती, श्री यशदेव शल्य तथा मैं (मुकुंद लाठ)। गोष्ठी में श्री शल्य ने अपना तब तक अधूरा लिखा लेख "साहित्य और संस्कृति" पढ़ा जिस पर चर्चा हुई। (यह पूरा लेख इसी अंक में पीछे दिया जा रहा है।) श्री शल्य के मन में उस दिन जो प्रश्न था उसको यों रखा जा सकता है : उन्होंने कहा, इतना निर्विवाद है कि साहित्य और संस्कृति दोनों को हम मनुष्य के कृतित्व के रूप में एक ही कोटि में रख सकते हैं; दोनों में एक अंग-अंगी भाव की बात कर सकते हैं। संस्कृति अंगी है साहित्य उसका अंग। किन्तु प्रश्न है कि क्या दोनों के साध्य एक ही हैं या कि साहित्य में संस्कृति का केवल एक आयाम ही प्रतिफलित होता है?

प्रश्न को उन्होंने धारणाओं के एक विशेष सन्दर्भ में रखा। सन्दर्भ था पुरुषार्थों के परम्परागत सिद्धान्त का : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शल्य जी के विचार में पुरुषार्थ सचमुच दो ही हैं : धर्म और मोक्ष, क्योंकि पुरुषार्थ वही है जो पुरुष की साधना के योग्य हो। मनुष्य अगर संस्कृति-प्राण है तो संस्कृति के भी ये ही उचित साध्य हो सकते हैं। अर्थ और काम इस कोटि में नहीं आ सकते। वे मानव-प्रवृत्तियाँ तो हैं, पर रागतः प्राप्त हैं, पुरुष की साधना के योग्य आदर्श नहीं कहला सकते। अर्थ और काम को साध्य कहें तो इसी सीमित अर्थ में कह सकते हैं कि मनुष्य की हर प्रवृत्ति एक वैविध्य, एक परिष्कार साधती है। पर इससे अधिक कुछ नहीं।

यह बात अगर सही है तो सहज ही विचार उठता है कि साहित्य का पुरुषार्थ भी फिर धर्म और मोक्ष ही होना चाहिये। पर ऐसा हम पाते नहीं हैं। वहाँ काम का प्राबल्य दिखता है। तो फिर साहित्य को संस्कृति में क्या स्थान दिया जाये? गहरा, तीखा प्रश्न है, साहित्य-रसिक को तिलमिला देने वाला प्रश्न। हम साहित्य को ऊँची सीढ़ियों पर रखते हैं, इसलिए ऐसे परेशान कर देने वाले प्रश्नों की अवहेलना या अवज्ञा कर देने के आदी हो गये हैं। पर प्रश्न उठे तो जिस अभिनिवेश से प्रश्न किया गया है उसी अभिनिवेश से उत्तर अपेक्षित है। प्रश्न की परेशानी को ध्यान में रखकर ही शल्य जी ने प्रसंग छेड़ा था।

दयाजी ने चर्चा की पहल की। उन्होंने कहा : आपकी शब्दावली—पुरुषार्थ की पारम्परिक शब्दावली —आपको बाँध रही है। काम, अर्थ, धर्म—इनकी बात ही बात को उधर ले जाती है जहाँ साहित्य के लिए कुछ बचेगा ही नहीं। साहित्य में भाषा स्वतन्त्र हो कर अनन्त सम्भावनाओं की यात्रा पर निकल पड़ती है। पर धर्म, अर्थ, काम को ही हम अपना क्षितिज बना लें तो फिर धर्म के सिवा पुरुषार्थ की सम्भावना बचेगी ही कहाँ? अनैक्य और वैविध्य के दूसरे द्वार बन्द हो जायेंगे। धर्म ही साहित्य का अन्वेष्य बच रहेगा। और यही विचलित कर देने वाली बात है। धर्म, अर्थ, और काम को विचार का आधार बना लें तो साहित्य के अपने समृद्ध संसार की बात अवरुद्ध हो जाती है। उसके लिए आगे बढ़ने का रास्ता ही नहीं रहता। आपका विचार-चित्र ऐसा है जैसी विशुद्ध रंगों की चित्रकला, जिसमें सीमित रंगों की कैद रंगों के असीम वर्ण-वैभव को खुलने ही नहीं देती। शल्य जी और मुकुन्द जैसे लोग भारतीय पदावली में चिन्तन तो करते हैं पर ऐसे प्रयोग में दो विपरीत गतियाँ दिखती हैं। स्वतन्त्र चिन्तन की भी प्रवृत्ति है, शब्दावली से बंध जाने की भी। यहाँ शल्य जी बंध गये लगते हैं।

बात आगे बढ़ने से पहले शल्य जी ने अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए दयाजी की बात का उत्तर दिया। उन्होंने कहा : दयाजी ने जो यह कहा है कि प्रत्यय विचार को बाँध देते हैं, उस पर मैं कहना चाहूँगा कि चेतना प्रत्ययों से बंधती नहीं है, उनका प्रयोग करती है। उनके माध्यम से विषय-करण करती है। किसी क्षेत्र विशेष को—विषय को—आँकती-परखती है। पर स्वयं मुक्त रहती है। जिन प्रत्ययों से विचार करती है, उनसे पृथक् होकर फिर उन्हें भी विषय बना लेती है। इस विषयभूत प्रत्यय का भी प्रत्यय के माध्यम से ही ग्रहण करती है। मैंने जिन प्रत्ययों से अपने विषय को आँका है उन्हें बाँधने वाला समझना ठीक नहीं। वे विषय को अपनी तरह से खोलते हैं। उनकी सम्भावनाओं की दिशा में सार्थक चिन्तन और चर्चा हो सकती है।

चित्रकला को ही लें। विशुद्ध रंगों की अनन्त छटा हो सकती है—रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव की तरह। फिर बात को यों क्यों नहीं देखते : साहित्य अगर व्यापक है और मैं साहित्य को काम पुरुषार्थ में रख रहा हूँ तो काम को ही व्यापक अर्थ दे रहा हूँ। आह्लादात्मकता के अर्थ में ले रहा हूँ। 'काम' शब्द का प्रयोग भी अभिप्रायों और अर्थों के विस्तार के एक पूरे आयाम की ओर इंगित करता ही है। साधारण अर्थ में जिसे काम कहते हैं, बात को उससे बाँध देने का तात्पर्य नहीं है।

भगवती ने चर्चा को आगे बढ़ाया, पर उनके कथन पर आने से पहले एक टिप्पणी करना चाहता हूँ। परम्परा में भी काम के विस्तृत और उदात्त अर्थ का प्रयोग मिलता ही

है। एक ऐसा उदाहरण देता हूँ, जो ध्यान में जल्दी नहीं आयेगा पर ध्यातव्य है। आळवारों ने—जैसे आण्डाल ने और उससे भी स्फुट शब्दों में संत परकाल ने—अपनी भक्ति के लिए 'काम' शब्द का प्रयोग किया है। यों काम के अर्थ को मोक्ष की दिशा में बढ़ा दिया है। पर कहना न होगा कि शल्य जी का अभिप्राय आण्डाल या परकाल से भिन्न है। उन्होंने आह्लादात्मकता की बात कही है। यह बात भोज की 'शृंगार' की धारणा से मिलती है, जब वे रस-मात्र को शृंगार कहते हैं, और शृंगार को आनन्द का पर्याय।

भगवती ने शल्यजी से प्रश्न किया : शिव-पार्वती के प्रणय को क्या काम में रखना उचित होगा? इस दिव्य प्रणय को एक विराट् रूप में देखा जा सकता है जहाँ सारी सृष्टि इसकी लीला-भूमि है। कालिदास के **कुमारसम्भव** को इसी अर्थ में समझना चहिये। यह काम नहीं है।

शल्यजी : काम को उस अर्थ में लेना चाहिये जिस अर्थ में **उपनिषद्** ने लिया है, सृष्टि की प्रेरणा के रूप में—सोऽकामयत बहु स्याम। इस अर्थ में जगत् ईश्वर की रूप-सृष्टि है : ईश्वर ने ही अपने आप को बहु-रूप दिया है, रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव के अर्थ में।

भगवती : 'काम' शब्द बखेड़ा खड़ा कर रहा है। इसके अर्थ की कोई सीमा तो होनी चाहिये। विराट् को मैं काम से नहीं जोड़ना चाहूँगी। काम मुझे सीमा में बाँधता लगता है। सौन्दर्य की बात कीजिये, यह काम से भिन्न है। सौन्दर्य भूमा है, जो मुझे अपनी सीमा से बाहर निकलने का निमन्त्रण देता है।

इस सवाल-जवाब के बाद प्रो. भटनागर ने अपनी बात कही। बात को एक नया मोड़ दे दिया : शल्य जी के प्रत्यय-सम्बन्धी विचार को छेड़ा। बोले : शल्य जी यह मान कर चल रहे हैं कि प्रत्ययन, या प्रत्यय-व्यापार, या प्रत्यय-निर्मिति कहिये, इस प्रक्रिया का सम्बन्ध चेतना की तटस्थता से है। मुझे तो ऐसा नहीं लगता। वस्तु से हम अपना भेद करते हैं तो अलग खड़े रहते हैं। हमें यह भी लगता है कि हम अलग ही नहीं हैं, वस्तु की जड़ता से भी मुक्त हैं, हमारे देखने के व्यापार में कोई शुद्धि की बात है। मूल्यात्मकता है। पर यह बात मूल्य के सोपान चढ़ने की बात नहीं है क्योंकि देखने की यही बात वस्तु के लिए ही नहीं, प्रत्यय के बारे में भी कही जा सकती है। किन्हीं दो प्रत्ययों को लें। उन पर विचार करें तो विचार अपने-आप को स्वायत्त सा पाता है। पर यह स्थिति कुछ ही देर की होती है। पर जितनी भी देर के लिए हो, हम पाते यह हैं कि प्रत्ययों का अपना संसार है—वैसा ही जैसाकि प्रत्यय से स्वतन्त्र पदार्थों का, वस्तुओं का संसार है।

फिर साहित्य और संस्कृति के सम्बन्धों की बात उठाते हुए भटनागर साहब ने शल्य जी की अंगी और अंग की धारणा पर टिप्पणी की। बोले, शल्य जी ने साहित्य को अंग, संस्कृति को अंगी कहा। फिर आप दोनों का अधिष्ठान अतिक्रामिता में रखते हैं। साहित्य और संस्कृति दोनों ऐसे तत्त्व हैं जो अपना अतिक्रमण करते चलते हैं। यह विचार की एक दिशा है जिसमें गहराई है, पर इसकी अपनी संकीर्णता भी है। अगर कला की बात सोचें तो इस चिन्तन की अपर्याप्तता दिख जाती है; बात यह है कि अतिक्रामिता की बात सामान्य की ओर ले जाती है जबकि कला की सत्ता विशिष्ट होती है। कला में अतिक्रामिता की दृष्टि से हम पैठना चाहें तो उसका विशेष सामान्य में बिखर कर अपना वैशिष्ट्य खो देगा, जो उसका मूल तत्त्व है।

शल्यजी : मैं पदार्थ से हटने के लिए प्रत्यय की बात नहीं कर रहा। मैं जिस तरह बात को समझता और रखता हूँ उसमें प्रत्यय और वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए मैंने बात विषयकरण की की है, जो आत्मचेतना का व्यापार है। आत्मचेतना के इस व्यापार से प्रत्यय उपजते हैं। वस्तु-प्रत्यय भी इसी व्यापार से उपजता है। और वस्तु-प्रत्यय से भिन्न वह वस्तु क्या है जिसे हम पीछे हटकर देखते हैं? जैसे उसकी कोई ऐसी स्वतन्त्र सत्ता हो जो हमारी तटस्थ आँखों पर अपना स्वरूप स्वतः आँक देती हो। वास्तव में वस्तु भी विषयकरण-व्यापार की ही उपज है, और प्रत्यय के बिना विषयकरण नहीं होता।

भटनागर जी : आप आत्मचेतना की ही बात करते हैं—पर चेतना केवल आत्मचेतन ही नहीं होती। चेतना और आत्मचेतना में अन्तर होता है। पशुओं की बात छोड़ें, हमारी चेतना ही कहाँ सदा आत्मचेतन होती है; कभी-कभी ही होती है। बड़ी रहस्यमय स्थिति है।

शल्य जी : आप क्या आत्मचेतना को रहस्यमय अर्थ में ले रहे हैं?

भटनागर साहब : यों देखिये। एक स्थिति है, 'मैं सोचता हूँ'। दूसरी, 'मैं सोचता हूँ कि मैं सोचता हूँ'। यह दूसरी स्थिति सदा नहीं होती।

शल्य जी : पर निहित तो होती है। 'यह ग्लास है', यह विषय-निर्धारण आत्म-चेतना पूर्वक ही हो सकता है।

भटनागर साहब : पर आत्मचेतना का स्वरूप क्या है, यह अपने-आप में एक पहेली है। फिर बात सच पूछिये तो चेतना के स्तरों की है। चेतना और आत्मचेतना दोनों के कई स्तर हैं, और इन स्तरों में भेद करना और इस भेद को ध्यान में रखना आवश्यक है।

संवाद ऐसी जगह आ गया था कि प्रसंग से छिटक रहा था, और जिधर बढ़ रहा था, कुछ पा नहीं रहा था। रुक गया। नन्दकिशोर जी ने चर्चा को एक और दिशा दी। बोले : साहित्य और संस्कृति की बात सार्थक भाव से करनी हो तो साँख्य-दृष्टि का सहारा लेना होगा। काम, धर्म, मोक्ष। मैं समझता हूँ कि ये चेतना की विभिन्न स्थितियाँ हैं, भिन्न स्तर की स्थितियाँ हैं। चेतना के परिवर्तन की स्थितियाँ हैं। परिष्कार के तारतम्य की। पर परिष्कार और तारतम्य का अर्थ बहिष्कार नहीं है। काम आदि में परिष्कार आता है तो काम का अर्थ बदल जाता है, विपुलतर, उत्तुंगतर हो जाता है, पर ऐसा नहीं कि कुछ पीछे छूट जाता हो, अलग हट जाता हो। यह साँख्य के तमस्, रजस्, सत्त्व की तरह परस्पर के गुँथाव जैसी बात है।

साहित्य में यह स्थिति स्पष्ट है। कृतियों में चेतना के स्तर-भेद दिखाई देते ही हैं—पर स्तर-भेद के रहते भी सब में साहित्य की पहचान बनी रहती है। साहित्य का एक अद्वय क्षेत्र बना रहता है। जैसे अरविन्द की **सावित्री** लीजिये, साहित्य ही है, पर उसकी चेतना का स्तर ही कुछ और है।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए शल्यजी बोले : नन्दकिशोर जी जो कह रहे हैं इसमें मुझे अपने कथन का प्रसंग मिल रहा है। जिस स्तरभेद की वे बात कर रहे हैं उसको यों रखें : अरविन्द का **सावित्री**, कालिदास का **शाकुन्तलम्**, जासूसी उपन्यास और रीतिकाव्य। इनमें उत्कृष्ट-निकृष्ट का स्पष्ट भेद है। भेद विचारणीय है। पर एक बात है। मुख्य प्रवृत्ति की बात। मैं समझता हूँ कि मुख्य रूप से साहित्य वही करता है जो कालिदास ने किया। मनुष्य का सुख-दुःख, उसके प्रयत्न, इसीको आधार बनाता है साहित्य-कर्म। **सावित्री** इस

अर्थ में काव्य नहीं है। **रामचरितमानस** की उत्कृष्टता भी राम के ईश्वर होने में नहीं है। मनुष्य-जीवन को जिस गहराई से देखा-दिखलाया गया है, इस बात में है। शेक्सपीयर में भी यही बात है, पर वहाँ जीवन-दृष्टि का स्तर स्थूल है, पर काव्य सूक्ष्म।

नन्दकिशोर जी : पर काम की बात पर फिर आइये। **गीतगोविन्द** को क्या कहेंगे? और भागवत के महारास को? यों तो ये स्थूल काम की ही अभिव्यक्तियाँ लगती हैं, पर भक्त इन्हें असाधारण अर्थ में लेता है। अब यहाँ कृति के स्वरूप का निर्धारण कैसे हो? और इसके बिना मूल्यांकन कैसे हो? अगर अर्थ देने वाला अर्थ देता है तो कृति को अपने-आप में तोला-परखा ही कैसे जाये?

इस पर शल्य जी ने कहा कि ये उदाहरण ही कुछ अटपटे हैं। चर्चा के लिए ऐसे उदाहरण लेने चाहिएं जो इस तरह द्विस्वभाव के न ठहरते हों।

नन्दकिशोर जी की बात साहित्य के बाहर संस्कृति के उस आयाम की ओर इंगित करती है जिसके भीतर साहित्य-कर्म होता है और कृतियों की सार्थकता बनती है। इसी बात को व्यापक बनाते हुए दयाजी ने चर्चा का अन्त किया। बोले, साहित्य को हम संस्कृति में रखकर देखना चाहें तो संस्कृति-भेद की और साहित्य के रूप-भेद की भी चर्चा करनी चाहिये। काल-भेद से भी साहित्य में भेद होता है, तभी साहित्य के इतिहास की बात की जा सकती है। पर काल पीछे ही नहीं आगे भी है। भविष्य सम्भावनाओं का द्वार होता है। प्रतिभा की नई-नई साधना का। अपनी चर्चा में हमें इन आयामों का ध्यान रखना चाहिये। फिर एक बात और है। साहित्य संस्कृति का अंग हो तो यह मानना होगा कि संस्कृति का ज्ञान साहित्य-ज्ञान का द्वार है। पर होता उलटा ही है। संस्कृति का ज्ञान साहित्य के माध्यम से होता है। और दर्शन आदि से। इनसे अलग संस्कृति क्या है?

मैं रिपोर्टर था, सुनने-लिखने में व्यस्त। मैंने अपनी बात गोष्ठी में नहीं कही। उस समय कहने लायक कुछ सूझा भी नहीं। पर अब कलम हाथ में है तो शल्य जी के लिए एक प्रश्न उठाना चाहूँगा। प्रश्न उनके पूरे चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में है।*

मुकुंद लाठ

---

* मुकुन्द जी का यह प्रश्न पृथक् लेख रूप में आगे दिया जा रहा है।

साहित्य और संस्कृति : शल्य-चिन्तन के भीतर से एक प्रश्न

मुकुंद लाठ

शल्य जी के साहित्य-सम्बन्धी इस लेख की ध्वनि यही उभरती है—और मैं समझता हूँ साफ उभरती है—कि मनुष्य का सही पुरुषार्थ, पुरुष के योग्य अर्थ, वास्तव में मोक्ष ही है। स्वातन्त्र्य की साधना। साहित्य, चाहे उसे काम की कोटि में रखिये या काम-भिन्न 'रस' की कोटि में, जिसे आह्लाद की परिष्कृत, सूक्ष्मतर, उत्कृष्टतर स्थिति कहा जा सकता है—जो भी कहिये, पर साहित्य प्रवृत्ति-मूल है, जैसा शल्य जी की बातों में ऊह्य ही है। धर्म भी प्रवृत्ति-मूल है, हालांकि आह्लाद से उसका सम्बन्ध नहीं। पर मोक्ष का मर्म प्रवर्तन नहीं निवर्तन है। अब अगर शल्य जी मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहें—जैसा कि वे कहते लगते हैं—तो एक समस्या खड़ी होती है। उन्हीं के चिन्तन में समस्या खड़ी होती है।

शल्य जी ने "सोऽकामयत बहु स्याम" की बात की। उपनिषद् का यह वाक्य उनके दर्शन का एक प्रधान स्तम्भ है। उनके चिन्तन को सृजन का चिन्तन भी कहा जा सकता है। उनके लिए जगत् सृष्टि-व्यापार है, निरन्तर व्यापृत। और सृष्टि उस 'सः' की ही है जो सत् भी है, चित् भी और आनन्द भी—या आह्लाद कहिये। पर 'सः' की सृष्टि कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'सः' सृष्टि से भिन्न नहीं है। और न अद्वैत की तरह सृष्टि माया या विवर्त है—तुच्छ, मिथ्या, फल्गु। सृष्टि 'सः' का अपने-आप को बहुरूप करना है। यों चित् के अद्वैत को रखते हुए भी शल्य जी लीलावादी हैं।

पर उनका दर्शन सृजन-व्यापार की अपनी अनूठी दृष्टि में बसा है। उस दृष्टि को 'दर्शन'-निष्ठ, चिन्तन-निष्ठ दृष्टि कह सकते हैं। सृजन-व्यापार शल्य जी के लिए एक तरह का प्रत्यय-व्यापार है। 'प्रत्यय' का वे क्या—या क्या-क्या—अर्थ लेते हैं, इसमें यहाँ नहीं जाऊँगा। उनके यहाँ यह शब्द बड़ा अर्थ-सघन और अर्थ-गंभीर है। 'प्रत्यय' के साधारण अर्थ से शल्य जी के प्रत्यय की ठीक पकड़ नहीं बनती। 'प्रत्यय' के अर्थ में यहाँ नहीं जाऊँगा, पर शल्य जी के सृष्टि-व्यापार का एक संक्षिप्त-सा चित्र लीजिये।

शल्य जी के चिन्तन का आरम्भ-बिन्दु मनुष्य की चेतना है जो आत्मचेतन है। या आरम्भ-बिन्दु नहीं कह कर इसे शल्य जी के दर्शन की नाभि कह सकते हैं, वह केन्द्र जहाँ से उनके चिन्तन के अरे बाहर की ओर फैलते हैं। आत्म-चेतना अपने-आपको दो छोरों में बँटा देख सकती है। विषय और विषयी। इन दो छोरों में अपने-आप को बंटा देखने का तात्पर्य यह है कि चेतना दोनों से अलग भी खड़ी रहती है। नहीं तो विषयी और विषय—या आत्म और विषय कहिये—यह विभाजन नहीं हो सकता, जो कि होता ही है।

चेतना के इस द्रष्टा-भाव की प्रवृत्ति जब आत्म को भी विषय बना सकती है, जो कि विषय-भिन्न ही नहीं होता बल्कि विषय का द्रष्टा भी होता है—तो हम कह सकते हैं कि

आत्म-चेतना का द्रष्टा-व्यापार अपनी ही गहराई में पीछे हटता एक 'निवर्तन' का व्यापार है या प्रत्यङ्मुख व्यापार है। अचम्भा नहीं कि और भी दर्शन हैं, विशेषकर भारतीय दर्शन, जैसे वेदान्त, जिनमें चेतना का यह व्यापार चिन्तन-मनन की प्रेरणा है। शल्य जी विचार की इस परम्परा से प्रभावित हैं, पर उन पर क्या प्रभाव है, इस चर्चा में यहाँ नहीं जाऊँगा। उसका कोई प्रसंग भी नहीं है।

पर एक बात है जो शल्य जी के चिन्तन को वेदान्त जैसे विचार-तन्त्र से बिल्कुल अलग करती है। और वह बात यहाँ मेरे प्रश्न के लिए प्रसंग की है। चेतना के द्रष्टा-व्यापार को शुद्ध द्रष्टा-भाव भी कह सकते हैं, क्योंकि जो भी दृश्य हो, चेतना उससे पीछे हटकर द्रष्टा हो जा सकती है। और इससे यह भी प्रकट है कि चेतना स्वतन्त्र है। दृश्य-तन्त्र नहीं है, चाहे दृश्य वही क्यों न हो जिसे हम आत्म या विषयी कहते हैं, और जिसको अपना 'आपा' या 'अपनापन' समझते हैं। वेदान्त के लिए दृश्य-मात्र माया है—मिथ्या। है भी तो नहीं के समान, तुच्छ—जो चेतना के स्वतन्त्र-भाव पर आरोप है। अध्यास। आगन्तुक। पुरुषार्थ इस मिथ्या से हट जाने में ही है। इससे निवृत्ति में। यही मोक्ष है। मुक्ति। या स्वातन्त्र्य। चेतना का प्रत्यङ्मुख निवर्तन, जो चेतना का स्वरूप की ओर ही है, वही इस स्वातन्त्र्य का साधन है।

शल्य जी भी चेतना के आत्मोन्मुख निवर्तन को चेतना के तत्त्व के रूप में देखते हैं। उसे परम स्वातन्त्र्य-प्रतिष्ठित मानते हैं और एक तरह से उनके विचार का यह परम तत्त्व भी है। पर यह उनके विचार का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष अद्वैत वेदान्त से अलग ले जाता है। उनके विचार में एक तत्त्व निवर्तना है तो दूसरा प्रवर्तना। 'दृश्य' उनके लिए मिथ्या नहीं है। स्वतन्त्र चेतना की सृष्टि है। या विशुद्ध 'परम' स्वप्रतिष्ठ चेतना के लिए 'चित्' शब्द अधिक उपयुक्त होगा। दृश्य चित् की सृष्टि है। या आत्मविसृष्टि कह सकते हैं। चित् का बहुरूप हो जाना, अपने-आप को 'दृश्य' में ढाल लेना।

चित् की आत्मविसृष्टि का यह व्यापार कैसे होता है इसी को समझने-समझाने के लिए शल्य जी का प्रत्यय-सिद्धान्त है। या प्रत्यय-व्यापार है। निवर्तना की धारणा जैसे अनुभव-निष्ठ है, प्रत्यय-व्यापार की धारणा भी अनुभवनिष्ठ है।

व्यापार को यों समझ सकते हैं। विषयी और विषय के सम्बन्ध को लीजिये। हम अपने अनुभव में दोनों को अलग पाते हैं। पर जैसे एक ही सूत्र में ग्रथित। विषय और विषयी साथ उपस्थित होते हैं। ज्ञान की एक ही 'उपस्थिति' में ये दो भाग होते हैं। 'भाग' कहने से जिस विभाजन की ध्वनि उभरती है, वह भी इस उपस्थिति में स्पष्ट होती है। हमें लगता है हम 'अपने' भीतर से ऐसा कुछ देख रहे हैं जो हमसे 'बाहर' है। इन्द्रिय ज्ञान में तो यह बात बिल्कुल ही साफ होती है। पर यह बाहर-भीतर की बात, यह देखने की बात, जो विषयी के लिए विषय को विषय बनाती है, यह बात प्रत्ययनिष्ठ है। 'बाहर' 'भीतर' 'देखना' ये प्रत्यय हैं। इनके बिना इस व्यापार की बात नहीं की जा सकती। अर्थ

यह नहीं कि यह व्यापार 'नहीं है'—केवल शब्द है। निरा, कोरा शब्द। अर्थ यही है कि शब्द के माध्यम से हम व्यापार को पकड़ सकते हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान में भी यही बात है जहाँ हमें शब्द-व्यापार अवरोधक ही लगता है। पर शब्द-व्यापार हमारे विषयी होने का अंग है, देखने का अंग है। यों देखिये : देखना—इन्द्रिय-वस्तु को भी विषय के रूप में देखना—इसलिए सम्भव होता है कि विषयी और विषय के बीच एक दूरी होती है। इन्द्रिय-वस्तु आँखों से भी देश की कुछ दूरी पर होती है पर वास्तव दूरी देश-काल की दूरी नहीं, बोध के भीतर ही एक द्वैधी-भाव की है। यह न हो तो बोध इन्द्रिय-वस्तु में डूब कर, उससे लिप्त होकर, रह जायेगा। 'देखना' नहीं बन पड़ेगा। विषय-विषयी-भाव नहीं उभरेगा, जिसके बिना विषय, विषय नहीं हो सकता। शब्द-व्यापार इस देखने का ही माध्यम है। विषय-विषयी के द्वैधी-भाव का अभिन्न अंग। सोचिये : शब्द के बिना भी विषय क्या होगा। इसका अनुभव विषय के 'सूक्ष्म' हो जाने पर और भी स्पष्ट हो जाता है। इतिहास को लें, जहाँ हम किसी स्थूल अर्थ में कह सकते हैं कि ज्ञान का विषय इन्द्रियज्ञान से ही सम्बद्ध होता है। विषय ऐसा होता है जो कभी इन्द्रिय-गोचर था, पर अब नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, और इस अर्थ में उसे 'सूक्ष्म' कह सकते हैं। अब अगर विषय बन सकता है तो शब्द-व्यापार के बिना यह सम्भव नहीं है। और ऐसे विषय-ज्ञान में हम 'शब्द' को 'प्रत्यय' के रूप में भी स्पष्ट देख सकते हैं—शब्द सामान्यवाची होता है, और इस अर्थ में प्रत्यय होता है। और यह बात अनिन्द्रय विषयों में स्पष्ट देखी जा सकती है। यह बात धर्म में—जिसे आज नैतिकता कहने का चलन है उसमें—और भी स्फुट है। धर्म का विषय 'है' की कोटि में आता ही नहीं, 'होना चाहिये' की कोटि में आता है। इतिहास, धर्म ये विषय प्रत्यय की ही भूमि पर बनते हैं, उसके बिना ये सम्भव ही नहीं।

एक मत हो सकता है—और अद्वैत, बौद्ध जैसे निवृत्ति-मूलक दर्शनों का यही मत होगा—कि इसीलिए ये मिथ्या हैं, या कोरी कल्पना हैं। शब्द के बुने प्रपंच हैं। पर शल्य जी ऐसा नहीं मानते। इन विषयों में हम सत्य-भ्रान्ति की बात करते हैं, यह प्रमाण-व्यापार की बात है—कोरी कल्पना की या माया की नहीं। इनमें हम प्रतिभा की, विषय-बोध की, सर्जनात्मकता की भी बात करते हैं।

पर सर्जनात्मकता की बात कला या साहित्य में अधिक उठती है, क्योंकि सर्जनात्मकता की बात वैविध्य और अनेकान्त को सहज खींच लाती है। प्रश्न उठ सकता है : सत्य तो एक ही होता है अनेक नहीं। इतिहास में—या धर्म में भी—सर्जनात्मकता की बात क्या? इस प्रश्न में यहाँ नहीं जाऊँगा। शल्य जी सत्य-मिथ्या में और सत्य-भ्रांति में अन्तर कैसे करते हैं, और विषयकरण मात्र में प्रतिभा की भूमिका को कैसे समझते हैं, यह अपने-आप में एक अलग प्रसंग है। उसमें यहाँ नहीं जाऊँगा। उनके दर्शन पर और भी प्रश्न हो सकते हैं। जैसे, विषयकरण-व्यापार हम मानें भी तो भी एक तत्त्व—चित्-तत्त्व—की अद्वय सत्ता को मानना क्यों ज़रूरी है? कान्ट भी एक तरह से विषय को विषयी की सृष्टि मानते

हैं, पर फिर भी विषय की आधार-भूमि को विषयी से स्वतन्त्र मानते हैं, नहीं तो उनके अनुसार कल्पना और ज्ञान में क्या भेद रहेगा? ये प्रश्न उठ सकते हैं, पर उठाऊँगा नहीं, ये तत्त्वमीमांसा के प्रश्न हैं और अलग विमर्श चाहते हैं।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि शल्य जी के चिन्तन में विषयकरण-व्यापार सृजन-व्यापार है, चित् की आत्मविसृष्टि है।

इस व्यापार में सबसे बड़ा सृजन आत्मसृजन है। हमने देखा कि विषय और विषयी दोनों ही चित् की विसृष्टि हैं। शल्य जी के चिन्तन का हम अपनी तरह से विश्लेषण करें तो विषयकरण के साथ 'विषयीकरण' की भी बात कर सकते हैं जिसमें कुछ बातें हैं जो विषयकरण मात्र से भिन्न हैं, और साहित्य को इस व्यापार से जोड़ सकते हैं, हालांकि है यह भी प्रत्यय-व्यापार ही, और इस अर्थ में विषयकरण के अन्तर्गत है।

विषयकरण-व्यापार ज्ञान-व्यापार है। पर हममें ज्ञातृत्व ही नहीं, भोक्तृत्व और कर्त्तृत्व भी होता है। इन्हें विषयी के व्यापार के रूप में समझना ही ठीक है। मनुष्य का कर्म धर्म का व्यापार है। धर्म क्या है—या क्या हो? इसके सत्य का जहाँ तक ज्ञान से सम्बन्ध है, हम इसे विषय के रूप में जानते हैं। पर संकल्प-बोध, कर्त्तृत्व-बोध, यह विषय की नहीं विषयी की बात है। और कर्त्तृत्व बोध का पर्याय है। यह भी प्रत्यय-व्यापार ही है, पर इसके प्रत्यय का स्वरूप भिन्न होता है। इसमें विषयी आत्म ही प्रत्यय होता है। प्रत्यय यहाँ आत्म की आत्मसृष्टि का माध्यम होता है। हम अपने कर्त्तृत्व भाव के स्वयं कर्त्ता होते हैं।

कला और साहित्य में विषयि-प्रत्यय एक और रूप में सामने आता है। यह विषय का भावना-व्यापार है जिसे हम भोक्तृत्व के साथ जोड़ सकते हैं। पर भावना विषय भी हो सकती है—जैसे मनोविज्ञान में। साहित्य में स्पष्ट ही यह नहीं होता। वहाँ भावना में स्थित रह कर ही भावना के भावन की बात है—इसीलिए भोक्तृत्व की, ज्ञातृत्व की नहीं। पर एक द्रष्टा-भाव भी बना रहता है जो प्रकट भी होता है। साहित्य में हम आत्म-चेतना के साथ भावना का भावन करते हैं—द्रष्टा-बोध के साथ। भाव की आँखों से भाव को देखते हैं। उसके सत्य से अवगत होते हैं—पर अवगत होना यहाँ ज्ञान का पर्याय नहीं, क्योंकि यहाँ बात प्रमाण-व्यापार की नहीं, भोक्तृत्व की है।

और साहित्य में हम सृजनकर्म की उस प्रतिभा का भी स्पष्ट परिचय पाते हैं जो वैविध्यधर्मी है। कला और साहित्य में हम कई भावलोक बनाते हैं और भोक्तृत्व में स्थित होकर उन्हें देखते हैं। और परखते भी हैं, क्योंकि खरे-खोटे का भेद यहाँ भी है, जैसे दूसरे प्रत्यय-व्यापारों में।

साहित्य में हम उस मर्म की भी झलक पा सकते हैं जो शल्य जी के चिन्तन को सृजन का—आत्मसृजन का—दर्शन बनाता है। साहित्य की कृतियों को हम विषयि-प्रत्यय की कोटि में रख सकते हैं—विषयी अपने विषयित्व में स्थित रहकर विषयी-भाव का अवलोकन करता है। अपने विषयीभाव का नहीं, विषयीभाव मात्र का। यह स्वातन्त्र्य में

अवलोकन है, विषयी-भाव की सम्भावनाओं का। यह अवलोकन ही नहीं सर्जन भी करता है। व्यापार कवि और सहृदय दोनों के स्वातन्त्र्य का है। विषयी भाव की इस विविध-वैभवमयी सृष्टि में हम यह भी देख सकते हैं कि स्रष्टा—और द्रष्टा भी—स्वयं विषयी नहीं है, विषयीभाव से पीछे हटा हुआ है : आत्म की ओर, या 'चित्' की ओर निवर्तित है। यह निवर्तन ही उसे सृष्टि-प्रवर्तन में समर्थ बनाता है। 'सः' की ओर मुड़कर ही हम 'बहु स्याम' की कामना कर पाते हैं। सार्थक कामना। क्योंकि यह विसृष्टि चित् के ही बहु होने का व्यापार है। रूप रूप में प्रतिरूप होने का। 'सः' के ही सच्चिदानन्द का विस्तार। निवर्तना यहाँ प्रवर्तना-मुखी है। अपनी ओर इसलिए मुड़ती है कि अपना सार्थक और खरा प्रकाश कर सके।

पर यह बात अगर सही है—शल्य जी के दर्शन की दिशा अगर ऊपर के विवरण में कुछ सही उतरी है, तो शल्यजी के साहित्य का पुरुषार्थ मोक्ष को कहना असमंजस, विसंगत लगता है। प्रवर्तना, चाहे वह साहित्य की दिशा में हो, या चेतना की किसी भी दिशा में हो, जगद्भाव मात्र में कहिये, वह सार्थकता की खोज करे और इसके लिए अपनी ओर निवर्तित हो, यह तो समझ में आता है, पर वह प्रवर्तन में भी निवर्तन ही साधे, यह समझ में नहीं आता।

फिर प्रवर्तना की, सृजन की, आवश्यकता ही क्या? शल्यजी के लिए भी प्रवर्तन 'चित्' या 'सः' के लिए आगन्तुक व्यापार है। नहीं भी हो सकता था। उसकी सार्थकता उसके आत्मसृजन में है—लीला-विस्तार में। पर यह भी अगर निवर्तन-प्राण हो तो बात क्या बनी?

पर फिर प्रश्न होगा कि साहित्य में प्रवर्तना की सार्थकता क्या होगी? वह कैसा रूप होगा जिसे हम रूप के प्रतिरूप की कोटि में रख सकें? साहित्य में यह सम्भव भी है? शल्य जी के मन में यही प्रश्न लगता है। वे कहते भी हैं कि जीवन के सुख-दुःख, प्रयत्न, इनकी मार्मिक अभिव्यक्ति, यह साहित्य का अपना धर्म है। इसीलिए कालिदास की रचना को उन्होंने काव्य कहा पर अरविन्द की **सावित्री** को नहीं, हालांकि अरविन्द की **सावित्री** अध्यात्मप्राण है, और इस अर्थ में रूप का प्रतिरूप होने की 'बड़ी' पात्र।

गुत्थी यह उभरती लगती है कि साहित्य अगर मनुष्य-जीवन की धरती पर ही जीता है तो मनुष्य-जीवन से सीमित भी है, और फिर वह काम के उसी घेरे में रह जाता है जिससे मनुष्य-जीवन घिरा है। यहाँ दो-एक बातें और कहना चाहूँगा। यह बहुत दूर तक सत्य ही लगता है कि साहित्य मनुष्य जैसा वह है उसीको रस-दृष्टि से आँकता हुआ, उसे अपने-आप में ही महिम सा बना देता है, मनुष्य की सुख-दुःखप्रयत्नमयी साधारण 'रहनी' को ही मनुष्य का साध्य बना देता है। जैसे यही सब कुछ है।

पर दूसरी ओर यह भी देखिये। आज पश्चिम में—रिनेसाँ के बाद के पश्चिम में—मनुष्य ही सर्वोपरि है। 'सबार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाहीं' इस बात को पश्चिम, और देखादेखी हम भी, अभिधा के रूप में लेते हैं : मनुष्य ही सब कुछ है।

जबकि जिस परम्परा में बात कही गई है—चण्डीदास ने कही है—वहाँ इसकी व्यंजना कुछ और है : मनुष्य ही अकेला उस धरती पर है जहाँ से वह ऊपर देख सकता है, उठ सकता है। अपना अतिक्रमण कर सकता है। साहित्य के प्रसंग में देखने की बात यहाँ यह है कि पश्चिम का साहित्य पश्चिम की मनुष्य-प्राण संस्कृति-श्रद्धा को गहराई से ठेस लगाता रहता है : वहाँ मनुष्य की धरती ऊपर-नीचे दोनों ओर फैली दीखती है।

फिर साहित्य से हट कर संगीत को लीजिये। संगीत में—और मूर्तिकला में भी—संगीत संगीत को अपनी पदवी से हटाता नहीं है। हम कह सकते हैं कि संगीत का पुरुषार्थ है 'साम' हो जाना, जिसमें मन्त्र की आर्ष-प्रतिभा हो। संगीत मनुष्य-जीवन से घिरा नहीं है, इसलिए संगीत में इसकी कल्पना सुगम है। पर काव्य में क्यों नहीं? कबीर का 'बानी' को साधना, ऋग्वेद के 'कवि' की वाक्-साधना, क्या है? क्या ये साम के पर्याय ही नहीं हैं?

शल्य जी का संस्कृति और साहित्य विषयक दृष्टिकोण : एक साहित्यिक प्रतिक्रिया

रमेशचन्द्र शाह

ए 3/2, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल-462002

शल्य जी के 'साहित्य और संस्कृति' विषयक इस विवेचन से जो विचारोत्तेजन मुझमें जगा, उसे शुरू में ही दो-टूक शब्दों या सूत्रों में रखना संभव होगा क्या? आगे बात के फैलने और कुछ ज्यादा ही फैल जाने की संभावना है, इसलिए भी यह बंदिश अपने ऊपर लगा लेना ज़रूरी लग रहा है।

शल्य जी साहित्य और संस्कृति के बीच कोई द्वन्द्व या तनाव का सम्बन्ध नहीं देखते। वे इस सम्बन्ध को अवयव और अवयवी का सम्बन्ध मानकर चलते हैं। अब, जहां तक भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य (ठेठ समसामयिक साहित्य को छोड़ते हुए) का प्रश्न है, उनकी बात सही हो सकती है। किन्तु पाश्चात्य संस्कृति अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम में समूचे विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण के लक्ष्य से जितनी प्रेरित रही है उतनी आत्मान्वेषण या आत्मोपलब्धि के आदर्श से नहीं। यह बात उसके दार्शनिक और धार्मिक इतिहास पर ज्यादा लागू होती है। किन्तु साहित्य अपने इस सांस्कृतिक परिवेश के भीतर एक प्रकार की घुटन महसूस करता रहा है और अपने प्रकृत्या आत्मोन्मुखी स्वभाव के अनुकूल उसका उससे तनाव का ही रिश्ता रहा है जो कई बार विद्रोह की शक्ल भी अख्तियार कर लेता रहा है। विशेषकर पिछली दो सदियों के साहित्य—रोमैण्टिक और आधुनिक दोनों—से यह स्पष्ट हो जाता है। तो, जहां तक शल्य जी की स्थापना संस्कृति मात्र और साहित्य मात्र को दृष्टिगत रख कर गई है वहां तक उससे सहमत होना कठिन है।

अब, जहां तक भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य के सम्बन्ध का सवाल है, वहां सहमति के बावजूद हम पाते हैं कि लेख का उपसंहार करते हुए स्वयं शल्य जी ने अपने विवेचन को समस्यामूलक बना डाला है। मोक्ष या संबोधि को इस संस्कृति का प्रेरक बिंदु और सर्वोच्च आदर्श मान लेने पर स्वयं सांस्कृतिक मूल्य और साहित्य कला आदि भी एक सीमा के बाद मूल्यवान् नहीं रह जाते। जिस संस्कृति में संस्कृति स्वयं अनात्म और अतिलंघनीय मानली जाए—अपनी मूल आत्मातिक्रामी प्रतिज्ञा के चलते—वहां क्या हम एक दूसरी समस्या को आमंत्रित नहीं कर डालते—सृजनात्मकता को ही सन्दिग्ध और इस तरह अवमूल्यित हो जाने देने के ख़तरे को? इस बात पर भी ध्यान गए बिना नहीं रहता कि दार्शनिक के रूप में शल्य जी ने जहां संस्कृति, इतिहास, कला, मनुष्य सबके तत्त्व की मीमांसा की है, वहां उन्होंने 'मोक्ष' पर अलग से उस तरह विचार नहीं किया है। मोक्ष

की जगह उन्होंने 'स्वातन्त्र्य' के मूल्य का महत्त्व प्रतिपादित करना श्रेयस्कर समझा है, तो क्यों? क्या सचमुच यह अवधारणा उनकी दृष्टि में पारंपरिक 'मोक्ष' का स्थानापन्न या पुनर्मूल्यांकन स्वरूप ठहरती है? यह प्रश्न इसलिए भी प्रासंगिक हो उठता है कि समसामयिक ही क्यों, पारंपरिक भारतीय दर्शन में भी किसी ने सृजन-तत्त्व को इतना महत्त्व नहीं दिया है जितना यशदेव शल्य ने (देखें उनकी **मूल्यतत्त्व-मीमांसा**, पृ. 25-37)। मेरे ख्याल से किसी ने भी शल्य जी की तरह डंके की चोट पर यह दावा नहीं किया कि "चेतना का सम्पूर्ण व्यापार सृजन-मूलक होता है और सम्पूर्ण सृजन-व्यापार ज्ञान-लक्षी होता है।" वे तो यहां तक पहुँच जाते हैं कि 'सृजन ही आद्य सत् और आद्य अर्थ है और यह आद्य और आधार ही सृजन का अन्वेष्य है।' परन्तु, तब मोक्ष का जो विचार जिस तरह बौद्ध-जैन दर्शन या स्वयं वेदान्त में—विशेषकर शांकर अद्वैत में—प्रतिफलित हुआ है, उसकी इस निष्पत्ति के साथ कैसे संगति बैठेगी? लगता है हमारी चेतना के इतिहास में कहीं कोई फाँक है, कोई दरार पैदा हो गई है, जो भरे जाने की मांग करती है। पश्चिम के साथ भारत का सम्बन्ध या टकराहट—उसके जो भी इष्ट और अनिष्ट परिणाम हों—इस प्रश्न या प्रकरण को और तीखा-धारदार बनाता गया है—यह भी प्रतीत होता है। यह अकारण नहीं कि शल्य जी 'स्वातंन्त्र्य' पर अलग से विचार करने की चुनौती महसूस करते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशिष्टता इस बात में है कि उसमें प्रारंभ से ही विरुद्धों के सामंजस्य को साधने की प्रवृत्ति अन्तर्निहित दीखती है। यह कविकर्म की प्रक्रिया सरीखी है : बड़े कवित्व की, बड़ी कविता की पहचान और विशिष्टता भी यही बताई गई है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संस्कृति का स्रोत ही काव्यानुभूति में है। यों भी—जैसाकि खुद शल्य जी ने लक्ष्य किया है एक जगह, 'भारतीय संस्कृति को जितनी गहराई से वाल्मीकीय **रामायण, महाभारत** और **रामचरितमानस** ने रचा और आधार तथा बल प्रदान किया, उतना संभवतः किसी कृति ने नहीं। . . . भारतीय समाज को उसकी संस्कृति में प्रतिष्ठित रखने और दीक्षित करने का कार्य ये कवि ही करते रहे हैं।' पारमार्थिक दर्शन की बातें—यहां तक कि व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नैतिक उपदेश और नीतिकथन भी यहां काव्य-बिम्बों और पद्य में अभिव्यक्त होते रहे हैं। एक ओर उपनिषद् का 'मैडिटेटिव थिंकिंग' है तो दूसरी ओर पंचतंत्र-हितोपदेश का 'कैल्कुलेटिव थिंकिंग' है : दोनों साहित्य हैं, कथा हैं, काव्य हैं। इस प्रकार यहां साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध वास्तव में अवयव-अवयवी का है, बल्कि यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन अवयव है और कौन अवयवी है।

किन्तु पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध अधिकतर अनमेल और असामंजस्य का ही दृश्य उपस्थित करता है। अपने धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश से यह तनाव का रिश्ता इस साहित्य को एक विलक्षण स्वायत्त गरिमा और तीव्रता प्रदान करता है जो हम भारतीयों को विशेष रूप से आकर्षित करता है। पश्चिम के धर्मग्रन्थों और कई बार दर्शन-ग्रंथों को भी पढ़ते हुए हमें कई जगह मानसिक अवरोध का अनुभव होता है। उनसे हमारा सहज

तादात्म्य नहीं हो पाता, क्योंकि जिस धर्मदृष्टि के हम अभ्यस्त हैं उससे वह काफी अलग पड़ जाती है। इसके विपरीत पश्चिम का साहित्य—चाहे वे शेक्सपीयर और तालस्ताय की तरह परस्पर अत्यंत भिन्न स्वभावों और लगभग विरोधी जीवन-दृष्टियों के लेखक हों, चाहे विलियम ब्लेक, डब्ल्यू.बी.येट्स, डी. एच. लारेंस और मार्सेल प्रूस्त सरीखे आधुनिक रचनाकार—उनसे हमारी संवेदना तुरन्त घनिष्ठ हो जाती है। उनके साथ वैसी कोई अटक हमें महसूस नहीं होती। उनमें से कई अपने सांस्कृतिक-धार्मिक परिवेश की जकड़न तोड़कर अपना एक सर्वथा स्वतंत्र विश्व रचते जान पड़ते हैं। कइयों में अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक मुख्यधारा से एक प्रच्छन्न अथवा खुला विद्रोह दीखता है। कहीं शांत, कहीं मुखर। आख़िर इस विरोध की क्या वजह है? क्यों ये सर्जक अपनी संस्कृति के घेरे में घुटन महसूस करते हैं और उसे तोड़कर अपनी सृजनात्मक ऊर्जा को चरितार्थ कर पाते हैं? कई बार लगता है, जैसे पश्चिम का उत्कृष्ट साहित्य पश्चिम के धर्मदर्शन की सीमाओं को अतिक्रांत करके उसकी एक तरह की क्षतिपूर्ति करता रहा है। उस साहित्य का मर्मज्ञ आलोचक भी इस तथ्य को दर्ज करता है। उदाहरण के लिए लॉयनेल ट्रिलिंग की एक पुस्तक का नाम ही है—'बियॉण्ड कल्चर'। ट्रिलिंग साहित्यिक मनीषा और वैज्ञानिक बुद्धि के बीच एक बुनियादी फ़र्क को रेखांकित करते हैं जो संभवतः शल्य जी की दृष्टि में महत्त्व नहीं रखता—पता नहीं क्यों। ट्रिलिंग पाते हैं कि "साहित्यिक मनीषा और साहित्य सदैव आत्म (सेल्फ) की आवधारणा पर अवलंबित और उसके प्रति समर्पित होता है, जबकि वैज्ञानिक व्यवहारतः आत्म का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। ट्रिलिंग साफ कहते हैं कि "सामान्य संस्कृति को 'आत्म' की अवधारणा की उतनी ज़रूरत भी नहीं होती, जबकि साहित्य तो सर्वत्र ही इसी पर निर्भर करता है।"

एक दिलचस्प नमूना इस अनमेल और विग्रह का आधुनिक युग में फ्रायड पेश करता है जो था तो वैज्ञानिक किन्तु उसकी खोज साहित्यकारों को अपने काम की लगी। इसलिए कि वह खोज यूरोपीय संस्कृति के कई सारे पूर्वग्रहों को उलट देने वाली थी। फ्रायड ने एक तरह से यही साबित किया कि मनुष्य पूरी तरह अपनी सभ्यता-संस्कृति का बन्दी होने को अभिशप्त है, जिससे मुक्त होने को वह व्यर्थ ही छटपटाता है। यह दिलचस्प और गौरतलब है कि मृत्यु का विचार फ्रायड को राहत देता है—मानो वह 'डेथ इंस्टिंक्ट' मनुष्य की आत्मा की गहनतम मांग हो—संस्कृति के आत्मघाती बंधन से छूट निकलने की एकमात्र संभावना। हमारे 'मोक्ष' के 'ऑब्सेशन' के कैसा विचित्र अनुरूप प्रतीत होता है फ्रायड का यह मृत्यु का ऑब्सेशन। लगता है मानो उस संस्कृति में मृत्यु के सहज स्वीकार का जो अभाव बद्धमूल है—मृत्यु-भय के अवदमन का जो स्थायीभाव सा वहां दीखता है, उसी की यह प्रतिक्रिया और परिणति हो। ट्रिलिंग ने एक जगह ई. एम. फार्स्टर की एक उक्ति उद्धृत की है : "मृत्यु मनुष्य को नष्ट कर देती है, किन्तु मृत्यु का विचार ही उसका उद्धार भी करता है।" इस पर ट्रिलिंग की टिप्पणी देखिए : वे पूछते हैं : 'उद्धार किससे?' और इस प्रश्न का उत्तर यूं देते हैं : "उद्धार—संस्कृतिबद्ध जीवन में अपनी आत्मा को पूरी तरह

झोंक देने की नियात से। हमें फ्रायड का आभारी होना चाहिए कि चलो, संस्कृति सौफीसदी हमारे भाग्य को निर्धारित नहीं करती, हमारी नियति का कुछ तो हिस्सा ऐसा है जो संस्कृति की गिरफ्त के बाहर के किसी बिन्दु से निर्धारित हो सकता है?" ट्रिलिंग तो यह उम्मीद भी लगाते हैं कि "मानव-नियति के संस्कृति-बाह्य पक्ष पर फ्रायड का यह आग्रह—बहुत संभव है—हमारे आत्म-विषयक चिंतन का बासीपन झाड़ दे और उसे कोई नया मोड़ दे दे।"

'सेल्फ' और 'कल्चर' के बीच का यह गहरा असामंजस्य ही, पश्चिम में संस्कृति और श्रेष्ठ साहित्य के बीच जिस तनाव और विग्रह की बात ऊपर की गई—उसके मूल में दीखता है। सच पूछिए तो आधुनिक पश्चिम का शायद ही कोई बड़ा साहित्यकार ऐसा होगा जिसके कृतित्व में अपनी सभ्यता के प्रति तीव्र असंतोष व्यक्त न हुआ हो। तुलना में—समसामयिक भारतीय साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियां, जो पश्चिमी साहित्य और संस्कृति की पूरी अवगति के साथ रची गई हैं, उन्हें देखें तो उनमें हमें इस तरह का, इस कोटि का असामंजस्य अपने सांस्कृतिक परिवेश के साथ नहीं दीखता। अज्ञेय सरीखे 'आउटसाइडर' और 'विद्रोही' मुद्रा के लेखक के ही विकासक्रम पर ध्यान दें तो यही बात परिलक्षित होगी : भारतीयता का नए सिरे से अर्जन और अर्जित का क्रमशः गहराता बोध। अज्ञेय की ही एक कविता की शब्दावली में उनके कविकर्म की विकास-प्रक्रिया को परिभाषित किया जा सकता है : "कितनी-दूर जाना पड़ता है पिता से/ पिता जैसा होने के लिए।" यह दूरी सृजन की आवश्यक शर्त है। अपनी ही संस्कृति के शक्तिस्रोतों से सृजनात्मक सम्बन्ध बना पाने के लिए।

जहां पश्चिम का साहित्यालोचक यह स्पष्ट देख पाता है कि "अपने सारतत्त्व में साहित्य की संसक्ति 'सेल्फ' से ही होती है,' वहीं वह इस तथ्य को भी बलपूर्वक रेखांकित करता है कि "विशेष रूप से पिछली दो शताब्दियों के यूरोपीय साहित्य का सारा प्रयत्न इस 'आत्म' के ही गहन अन्वेषण और पुनराविष्कार पर एकाग्र रहा है जो बहुत पहले से इस 'कल्चर' से, यानी आत्म को बन्दी बनाने वाली संस्कृति के आत्मरोधक चरित्र के साथ, संघर्षरत रहा है।"

स्वयं शल्य जी के कथनानुसार "सब सर्जन आत्मसर्जनमूलक होते हैं।" यह भी, कि "यह आत्मा या शुद्ध चित् चैत्त कल्मषों को आत्म-सृजन में उपादान बनाकर सर्जन के स्वातन्त्र्य में प्रतिष्ठित होता है। और यह स्वातंत्र्य पूर्णतः अकृत, पूर्णतः स्वायत्त होता है जिसमें अवर आत्मा ही नहीं, वर आत्मा भी सृष्ट कृति होती है : फ़र्क इतना ही, कि वर आत्मा स्वयं स्वातंत्र्य है—आत्म-स्वरूप का कर्त्ता।" (**मूल्यतत्त्व-मीमांसा**, अ.II)

किन्तु यदि वर आत्मा स्वयं स्वातंत्र्य है, आत्म-स्वरूप का कर्त्ता, तो फिर सृजन-निरपेक्ष मोक्ष सर्वोच्च पुरुषार्थ कैसे है? और मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ के रूप में स्थापित करने वाली संस्कृति सर्जनशील या सर्जनात्मक स्वातन्त्र्य के मूल्य को अक्षुण्ण कैसे बनाए रख सकती है? वैदिक आनन्दवादी दृष्टि और बौद्ध दुःखवाद के द्वन्द्व का समाधान कैसे सम्भव

है? इस द्वन्द्वात्मकता से विद्ध सांस्कृतिक परिवेश में तब फिर क्या संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध भी नहीं बदल जाता? वह भी द्वन्द्वात्मकता से ग्रस्त नहीं हो जा सकता? यदि "संस्कृति का लक्षण सृजनपरम्परा है" (समाज, पृ. 184) और "व्यक्ति और संस्कृति दोनों का तत्त्व स्वातंत्र्य है तो स्वातंत्र्य के मूल्य को प्रमुखता देने वाली योरोपीय संस्कृति में धर्म और विज्ञान के बीच, स्वयं धर्म की मुख्यधारा और रहस्यानुभूतिपरक धारा के बीच, तथा कुल मिलाकर सामान्य संस्कृति और साहित्यिक सृजनशीलता के बीच भी विग्रह की नौबत क्यों आती है? मैडिटेडिव थिंकिंग पर कैल्कुलेटिव थिंकिंग क्यों हावी होता चला जाता है?

शल्य जी के अनुसार चेतना की तीन अवस्थाएं हैं, जिनमें पहली तो प्राकृतिक अवस्था है, जिसमें चेतना विषयपरवश रहती है, दूसरी सांस्कृतिक अवस्था है, जिसमें चेतना विषय से अपने को निवर्तित कर उसके माध्यम से उन अर्थ-भुवनों का साक्षात्कार करती है जो अपनी विपुलता में असीम होते हैं, और तीसरी मोक्षावस्था है जिसमें चेतना विषयता को पूर्णतः निरस्त कर अर्थ-भुवनों को अपने में समाहित कर लेती है। शल्य जी स्वीकार करते हैं कि यह संस्कृति की उत्तरवर्ती अवस्था है, सांस्कृतिक अवस्था नहीं। चेतना का यह दूसरा स्तर ही तृतीय स्तर की ओर अपनी उन्मुखता में संस्कृति का जनक होता है, जबकि प्रथम स्तर की ओर उन्मुखता ह्रासक होती है।

किन्तु, उन्मुखता एक बात है; दूसरी स्थिति की अनिवार्य सोपानवत्ता और मूल्यवत्ता को यथोचित महत्त्व न देकर तीसरी स्थिति को ही सर्वोच्च मानकर उसी को मानदण्ड बना लेना बिल्कुल दूसरी बात है। यहाँ, उचित विवेक और मात्रा-ज्ञान के अभाव में दोनों जगह गड़बड़ी होने की आशंका होती है। वह गड़बड़ी है—दूसरे और तीसरे स्तरों के बीच पर्याप्त सेतुबंध निर्मित न हो पाने की, इनके बीच पुरुषार्थों के एक ऐसे बँटवारे की स्थिति रूढ़ हो जाने की जो सृजनशीलता के लिए अपेक्षित उच्चतम मापदंडों के शिथिल पड़ जाने और इस तरह मानवीय पुरुषार्थ को उकसाने वाली चुनौती के ही समाप्त हो जाने का खतरा उत्पन्न कर सकती है, जीवन की जटिल समस्याओं को पहले से उपलब्ध समाधान में ही घुला लेने की सुविधा मिल जाती है और स्वतंत्र अन्वेषण के लिए अपेक्षित ऊर्जा नहीं मिल पाती। 'सकल कामना-स्रोत लीन हो, पूर्ण विरति कब पाएगी?'— यह एक समर्थ कवि की भी मांग हो सकती है, होती ही है, किन्तु कामनाओं के क्रमिक पारदर्शन और प्रौढ़तर होती जाती जीवनानुभूति और सृजनानुभव के फलस्वरूप ही, पहले से उपलब्ध समाधान की सुरक्षा और आश्वासन को सामने रखकर नहीं। 'कहा जो न, कहो'—निराला की एक कविता कहती है—"नित्य-नूतन प्राण अपने/गान रच-रच दो।" सृजन की असली चुनौती और सार्थकता यही है जिसे परवर्ती कवि (". . . आज तुम शब्द न दो, न दो, / कल भी मैं कहूंगा . . .") पुनः अपने लिए परिभाषित करता है। किन्तु मोक्ष को आत्यन्तिक मूल्य बना लेने और उसीसे संस्कृति को परिभाषित करने से क्या यह चुनौती खत्म नहीं हो जाती? स्वयं सृजनात्मक चेतना की ही मूल्यवत्ता घपले में नहीं पड़ जाती? स्वयं

शल्य जी के कथनानुसार "हमारे देश के दर्शनों ने संस्कृति को अनात्म, उत्क्रमणीय, लंघनीय के रूप में देखा है और हमारी संस्कृति ने इसी दृष्टि को सम्यक् मानते हुए साहित्य और अन्य कलाओं को काम और धर्ममूलक अर्थों की विपुलता की सिद्धि के रूप में ही भजा है।" किन्तु इसके साथ ही वे एक जगह यह भी कहते हैं कि "काव्य और अन्य कलाओं का मुख्य विषय काममूलक अर्थों का विमर्श ही रहा है।" यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि दर्शनों ने संस्कृति को जिस तरह भी देखा हो, स्वयं काव्य ने, महाकाव्यों ने उसे किस तरह देखा है? स्वयं शल्य जी ने माना है कि भारतीय संस्कृति को महाकवियों ने जिस तरह रचा है, जिस तरह समूचे जनमानस को उसमें दीक्षित किया है, उस तरह अन्य ग्रंथों ने नहीं। इसका अर्थ क्या निकला? आत्मातिक्रमण तो वीरोचित पुरुषार्थ है : और इसी रूप में वैदिक काव्य में और महाकाव्यों में भी अभिव्यक्त हुआ है। वह संस्कृति का प्रेरक आदर्श क्यों नहीं बन सकता? उसका ऋणात्मक और जीवन-विमुख रूप मोक्ष या निर्वाण ही कैसे निर्विवाद रूप से सर्वोच्च साध्य मान लिया जाय? क्या यह अकारण है कि आधुनिक युग के एक महत्त्वपूर्ण कवि जयशंकर प्रसाद को इस दृष्टि से समूचे भारतीय इतिहास को जाँचने परखने की ज़रूरत पड़ी और वैदिक आनन्दवाद के पक्ष में पलड़ा झुकाना पड़ा?

तो, समस्या यहां भी है और शल्य जी ने अपने लेख का उपसंहार करते हुए इस समस्यामूलकता को और भी तीखा बना दिया है। "यह कहकर कि मोक्ष या संबोधि जबकि उन अर्थ-भुवनों के अतिक्रमण में है, इस बोध की सिद्धि तो साहित्य, संगीत, दर्शन आदि के, और फलतः संस्कृति के ही विलयन में संभव है।" यह समस्यामूलक इसलिए है कि मोक्ष का सर्वोच्च साध्य के रूप में आग्रह सिद्धान्ततः भी और व्यवहारतः भी मनुष्य के सारे सांस्कृतिक पुरुषार्थ को सन्दिग्ध बना देता है, बल्कि अवमूल्यित कर देता है। और यह अवमूल्यन न केवल व्यक्ति की सृजनात्मक ऊर्जा को, बल्कि समाज की समूची सामुदायिक प्राण-ऊर्जा के एकीकृत रूप से चरितार्थ हो सकने को, बाधित करता है।"भारतीय साहित्य और दर्शन आदि का अन्तिम लक्ष्य आत्म-विलयन की यह सिद्धि ही है"—इस निष्पत्ति के फलितार्थों पर से ही शल्य जी के मन में संदेह उठता है कि "क्या साहित्यकार और दार्शनिक इस समाधान को स्वीकार करेंगे?"

तो, इस विरोधाभास का क्या किया जाय कि एक ओर भारतीय संस्कृति की रचना और दीक्षा में कवियों की (साहित्य की) भूमिका सबसे बड़ी और निर्णायक ठहरती है और, दूसरी ओर मोक्ष को इसी संस्कृति का सर्वोच्च साध्य और विभेदक लक्षण मान लेने पर स्वयं उस संस्कृति की सारी उपलब्धियाँ अवास्तविक और अनन्वेष्य हो जाती हैं? ऊपर यूरोप के सन्दर्भ में साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध की समस्यामूलकता की चर्चा की गई थी। किन्तु अब लगता है, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य भी अपने ढंग की समस्या उत्पन्न करते हैं। शल्य जी निश्चय ही इस समस्या से संवेदित होंगे। तभी उनके चिन्तन में मोक्ष पर उस तरह अलग से विचार नहीं मिलता बल्कि वह विचार 'स्वातंत्र्य'

की उनकी अपनी अवधारणा के रूप में अपने लिए जगह बनाता प्रतीत होता है, या यूं कहें कि वह 'स्वातंत्र्य' से विस्थापित हो जाता है। मोक्ष की अवधारणा का स्वातंत्र्य के मूल्य द्वारा यह विस्थापन स्वयं में नया और विचारोत्तेजक है। शल्य जी स्वातंत्र्य को 'प्रवृत्ति की निर्बाधता' नहीं, 'चयन की योग्यता' मानते हैं। निश्चय ही, वे इस कठिनाई के प्रति भी सचेत दीखते हैं कि यह दृष्टि स्वातंत्र्य को अत्यधिक असाधारण अर्थ दे देती है और इसमें चेतनाविषयक एक तत्त्वदृष्टि पूर्वगृहीत है जिसकी सत्यता स्वतःस्पष्ट नहीं है। वह दृष्टि है आत्मोन्मुख अतिक्रान्त चेतना की। इस दृष्टि के अनुसार 'स्वातंत्र्य' क्या मोक्ष या निर्वाण की दिशा से अलग और स्वतंत्र मूल्य-ऊर्जा की गुंजाइश बनाता है—प्रश्न यह है। यदि सृजन "आत्मचेतन चेतना द्वारा 'सत्' में आत्म-प्रतिष्ठा और आत्म-सत्यापन दोनों होता है और यह प्रतिष्ठा ही चेतन का स्वातंत्र्य है"—जैसा शल्य जी बताते हैं—तो यह सृजनशीलता के धन पक्ष की बात हुई या कि निर्वाण या मोक्ष के ऋण-पक्ष की? इससे क्या वह समस्या—संस्कृति और साहित्य दोनों की असन्दिग्ध मूल्यवत्ता का आश्वासन पाने की समस्या—हल होती है कि नहीं होती? यह विचारणीय है।

जहां तक कवियों के साक्ष्य की बात है, हमें भारतीय संस्कृति की सृजन-परम्परा ठेठ आधुनिक कवियों में भी चरितार्थ होती दीखती है। मसलन प्रसाद, निराला और अज्ञेय में। प्रसाद का उल्लेख पीछे हुआ था, जिन्होंने न केवल **कामायनी** की रचना की, बल्कि भारतीय संस्कृति के इतिहास को वैदिक आनन्दवाद और बौद्ध दुःखवाद के प्रलम्बित द्वन्द्व के रूप में देखते हुए एक अत्यावश्यक इतिहास-बोध भी उकसाया। निराला का **तुलसीदास** भी प्रस्तुत संदर्भ में एक प्रेरक उदाहरण है कि किस प्रकार एक कवि समूची सांस्कृतिक परम्परा का अपने युग-संदर्भ में साक्षात् करता है—अपने समर्थतम पूर्वकवि को 'कल्चर हीरो' के रूप में प्रत्यक्ष करते हुए, उससे प्रासंगिक प्रेरणा प्राप्त करते हुए, अपने समय की चुनौती का रचनात्मक प्रत्युत्तर गढ़ता है। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', और वही क्यों, समूचा काव्य-विकास-क्रम पहले व्यक्तित्व की खोज की प्रक्रिया पर बल देते हुए उसकी सार्थक परिणति अंत में व्यक्तित्व के विलयन में पाता है। साथ ही, वह भारत और पश्चिम की टकराहट के संदर्भ में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के पुनरन्वेषण और पुनर्मूल्यांकन की एक सार्थक प्रक्रिया का निदर्शन भी है। प्रसंगवश, यहां मैं शल्य जी द्वारा अपने लेख के उपसंहार में पूछे गए प्रश्न का हिन्दी साहित्यकार क्या उत्तर दे सकता है, इसकी बानगी के रूप में अज्ञेय के एक काफी पहले के आत्म-कथन को उद्धृत करना चाहूंगा। यह उद्धरण 'अहं का विलयन' शीर्षक उनके लेख का अंश है (**आत्मपरक**, पृ. 26-32)। अज्ञेय कहते हैं—

"काव्य-रचना का अधिकार तभी आरंभ होता है जब व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन हो जाय, यह मानना तो दूर की बात रही, आज का कवि तो इतना भी नहीं मानता कि कविता या कि कला-सृष्टि व्यक्तित्व के विलयन का माध्यम है : कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को बृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है। वरंच आज का कवि तो कविता को व्यक्तित्व

की, व्यक्ति के अहं की प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है। मैं कहूं कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ, अधिक से अधिक उस श्रेणी में हूं जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानता है। बल्कि, सच कहूं तो इतना भी इसलिए कि युग की सीमा का इस हद तक स्वीकार करता हूँ और उससे बद्ध होने को विवश हूँ। नहीं तो मुझे सर्वथा स्वीकार्य है कि प्राचीन कवि की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द-साधना थी। ठीक आदर्श वही है, यह मैं मानता हूं। मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नहीं है तो यह मेरी सीमा है। उस सीमा के लिए मेरा युग भी उत्तरदायी है, इतना ही अपने बचाव में कह सकता हूँ।"

मैं समझता हूँ सन् 1951 में की गई अज्ञेय की यह स्वीकारोक्ति शल्य जी के उस प्रश्न के और प्रस्तुत विषय के संदर्भ में भी प्रासंगिक है। प्रश्न सर्जक की तरह आचरण करते हुए, अपने समय की चुनौतियों के प्रति भी संवेदनशील बने रहकर उनका रचनात्मक प्रत्युत्तर सांस्कृतिक आत्म-विश्वास के स्तर पर दे पाने का है। कहना न होगा कि यह सांस्कृतिक आत्म-विश्वास अर्जन का विषय है, सुखोपलब्ध सुरक्षा का नहीं। इस लिहाज़ से—जैसाकि पहले भी संकेत किया गया—मोक्ष की बजाय सृजनात्मक 'स्वातंत्र्य' को अपनी संस्कृति का मूल प्रेरक तत्त्व मानना ही सम्यक् प्रतीत होता है। यह व्यक्तिगत-सामुदायिक अभ्युदय को तो सुनिश्चित करता ही है, स्वयं निश्रेयस् या मोक्ष के भी आड़े नहीं आता। यह न केवल उस धर्म-संस्थापक सभ्यता-बोध (जिसे रामचन्द्र गांधी प्राक्-बौद्ध वैदिक दृष्टि का 'सिविलिज़ेशनल थ्रस्ट' कहते हैं) और उसकी वास्तविक तथा अभी तक कमोबेश विद्यमान चरितार्थता से पुष्ट हो सकने वाली बात है; बल्कि हमारे ठेठ समकालीन प्रतिनिधि कवियों और दार्शनिकों का जीवन-कार्य भी उसीके आधार पर अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है।

बहुत पहले अरस्तू की यह उक्ति पढ़कर मैं चौंक गया था कि "मनुष्य को विद्या का उपार्जन अपने को अजर-अमर मानकर करना चाहिए।" **हितोपदेश** भी कुछ इसी तरह की बात कहता है, मगर उसमें एक और बात जोड़ते हुए, जो अरस्तू के ध्यान से ओझल है। वह श्लोक बचपन में पढ़ा हुआ मुझे अभी तक याद है : 'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्/गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'। मुझे लगता है, यह हमारे प्राचीन साहित्य में झलकने वाला सम्यक् सांस्कृतिक विवेक है जो प्राज्ञ के आदर्श को सबके लिए सहजगम्य बनाता है और साथ ही उस सांस्कृतिक आत्मविश्वास का द्योतक है जो परमार्थ को ऊपर रखते हुए, पारमार्थिक और व्यावहारिक का सही संतुलन साधते हुए, मनुष्य-जीवन की सार्थकता को सिद्ध करता है। अब **हितोपदेश** कोई परमार्थ-ज्ञान की पुस्तक नहीं है : नितान्त व्यावहारिक और पार्थिव बुद्धिमत्ता की सीख देने वाली शृंखलित कथा है। उसमें जो भी नीति-उपदेश है, वह 'मैडिटेटिव' की बजाय 'कैल्कुलेटिव थिंकिंग' के खाते में जाने वाला है। फिर भी, उसका आरंभ ही धर्म के आत्यन्तिक मूल्य को रेखांकित करने से हुआ है।

धर्म के, न कि मोक्ष के। प्रश्न उठ सकता है कि हमें धर्माचरण क्यों करना चाहिए, इसके लिए क्या 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना' का तर्क काफी है? नहीं है निश्चय ही; क्योंकि मौत कभी भी हमें खोज सकती है, इस तथ्य का स्मरण हमें धर्माचरण में ही प्रवृत्त करे यह कतई ज़रूरी नहीं है। चार्वाक् भी तो यही युक्ति देकर 'सुखं जीवेत्' का निष्कर्ष निकालते हैं, जो अर्थ हितोपदेशकार को स्पष्ट ही स्वीकार्य नहीं है। उसके लिए धर्माचरण आध्यात्मिक श्रेयस् से जुड़ा है, स्थूल सुखवाद या स्थूल परलोकवाद से नहीं। द्रष्टव्य है कि शल्य जी भी धर्मनीति के तत्त्व की मीमांसा करते हुए उसे मात्र व्यावहारिक चित्तभूमि का विषय न मानकर 'परमार्थबोध की भूमि पर से जीवन-व्यवहार का नियोजन' मानते हैं। हितोपदेशकार के श्लोक के उत्तरार्द्ध का अर्थ भी—यदि उसे पूर्वार्द्ध से संगत होना है—तो बिल्कुल वही है। यहां पारमार्थिक और व्यावहारिक के विभाजन और असंतुलन के खतरे के प्रति सचेतता दीखती है : मानवीय आकांक्षाओं का अकुंठ स्वीकार तथा मानवीय संभावनाओं की परिपूर्त्ति का आश्वासन और जतन भी दिखाई देता है और उसी सांस में मनुष्य के समाज और सृष्टि में मर्यादित आचरण का सुनिश्चय भी एक उच्चतर चित्तभूमि पर घटित होने वाली सत्यापनीय अनुभूति के तर्क से ही किया गया है। निश्चय ही यह विरुद्धों के सामंजस्य की सृजनात्मक साधना से उपजने वाले सांस्कृतिक आत्मविश्वास का स्वर है जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन-ऊर्जा के पूर्ण प्रस्फुटन और एकाग्र विनियोग का पूरा अवकाश है। साथ ही हर तरह की आसक्ति और फँसावट से उसकी आन्तरिक स्वाधीनता और मुक्ति की मांग भी इससे पूरी होती है।

भाषा, साहित्य और संस्कृति

सिद्धेश्वरप्रसाद
राज्यपाल-त्रिपुरा, अगरतला

अज्ञेय-व्याख्यानमाला के अंतर्गत 'साहित्य और संस्कृति' विषय पर दिये गये अपने व्याख्यान में इनके स्वरूप और सम्बन्ध पर विचार करते हुए श्री यशदेव शल्य ने कतिपय मौलिक प्रश्नों की ओर संकेत किया है और उन पर अपने विचारों को भी व्यक्त किया है। उनके विचार न तो विशुद्ध दार्शनिक हैं, न विशुद्ध साहित्यशास्त्रीय। हो भी नहीं सकते थे, क्योंकि विषय ही ऐसा है। साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध में साहित्यशास्त्री, समाजशास्त्री और दर्शनशास्त्री स्वभावतः अपने-अपने ढंग से चर्चा करते हैं क्योंकि ये अपनी पद्धति की परिपाटी के प्रशिक्षण से जुड़े होते हैं। इसी से उनकी शक्ति और सीमा का निर्धारण भी होता है, क्योंकि जीवन का सम्पूर्ण यथार्थ किसी भी पद्धति की पकड़ के बाहर होता है। यथार्थ व्यक्त होकर सम्प्रेष्य और बोधगम्य तो हो जाता है परन्तु वह अभिव्यक्ति की सीमा में बंध भी जाता है।

शल्य जी की मूल स्थापना प्रथम वाक्य में ही सामने आ जाती है—"साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध अवयव और अवयवी का-सा है, दो पृथक् वस्तुओं के बीच बाह्य प्रकार का नहीं।" पूरे व्याख्यान को पढ़ने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वक्ता द्वारा अपने अभीष्ट को इस रूप में प्रस्तुत करने पर विषय अधिक स्पष्ट होता—"भाषा, साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध अवयव और अवयवी का-सा है, पृथक् वस्तुओं के बीच बाह्य प्रकार का नहीं।" भाषा के बिना साहित्य और संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शल्य जी जैसे भारतीय परंपरा के पंडित ने इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया, यह कहना कठिन है। शायद इसका कारण यह रहा हो कि उनका ध्यान मूलतः संस्कृति पर केन्द्रित था और साहित्य का विवेचन संस्कृति के साधन के रूप में ही करना उनका अभीष्ट था। साहित्य, दर्शन, संस्कृति आदि का "अंतिम लक्ष्य आत्मविलयन की यह सिद्धि ही है" के रूप में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करने के पूर्व उन्होंने कहा है—"ऊपर हमने चार पुरुषार्थों की बात की है . . . ये सब अर्थ पुरुषार्थ इसलिए हैं क्योंकि ये पुरुष को, उसकी चेतना को समृद्ध बनाते हैं। अर्थों का यह उन्मेष और इनकी एष्यता-अनेष्यता का विवेक, यही वास्तव में संस्कृति है और अर्थों के विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण आयाम होने से साहित्य संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो जाता है।" भाषा के बिना साहित्य और संस्कृति के माध्यम से आत्मविलयन की यह सिद्धि संभव नहीं है। इसीलिए तत्त्वज्ञ भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' का आरंभ इस श्लोक से किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अर्थात् "उत्पत्ति और नाश से रहित शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म, जो अक्षर के नाम से जाना जाता है, जिससे जगत् की प्रक्रिया अर्थ के रूप में प्रकट होती है।" शब्द की ब्रह्म के रूप में उपासना की धारणा में जितनी मौलिकता है उतनी ही वह भारतीय चिंतन की उस समग्र दृष्टि की भी परिचायक है जिसकी ओर डॉ॰ आनंदकुमार स्वामी ने यह कहकर संकेत किया है कि इससे भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की एकता के सांस्कृतिक आधार के आदर्शों को आकार प्राप्त होता है। (**द डांस ऑफ़ शिव, व्हाट हैज़ इंडिया कंट्रीब्यूटेड,** शीर्षक निबंध) शब्द और अर्थ की ब्रह्म के रूप में उपासना को, उनके मूलभूत अद्वैत को ध्यान में रखने के कारण ही कालिदास ने "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये" (**रघुवंश**) की बात को "जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ" के रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि पार्वती-परमेश्वर की तरह वाक् और अर्थ असम्पृक्त कहाँ हैं? इनके असम्पृक्त रूप का विवेचन वाक् और अर्थ करने के मोह के कारण ही आज सर्वत्र संवादहीनता की स्थिति पैदा हो गयी है। लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई रहित ज्यामिति के बिन्दु की कल्पना तो की जा सकती है परन्तु उसका रूपांकन नहीं किया जा सकता।

शल्य जी का साहित्य का विवेचन साहित्यशास्त्रियों के विवेचन की तुलना में अधिक सटीक और सारगर्भित है। उनकी **रामायण, महाभारत, रामचरितमानस** और **कामायनी** के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ उनमें व्यक्त जगत् और जीवन की संवेदना को कसौटी मानकर चलने के कारण अधिक युक्तियुक्त और उद्‌बोधक हैं। इस ओर ध्यान जाने के कारण ही उन्होंने लोक-काव्य को छुआ है पर उसके विवेचन में नहीं उतरे हैं। परन्तु विस्तार से उन्होंने विवेचन समग्र जीवन-दृष्टि को लेकर चलने वाले कवियों और लेखकों का नहीं बल्कि केवल अज्ञेय का ही किया है।

"किसी कृति में किस पुरुषार्थ का विमर्श हुआ है और उसकी चिद्‌भूमि क्या है?" इसे शल्य जी ने महत्त्वपूर्ण पक्ष माना है। निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है पर इसका साँगोपाँग विवेचन साहित्यशास्त्र के साथ दर्शन का भी विषय हो जाता है। पतंजलि के **योगसूत्र** (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) या भरतमुनि के (विभावानुभाव संचारिसंयोगात् रसनिष्पत्ति) कथन के विस्तार में न जाकर मैं यहाँ साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज के कथन को इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि इससे उठाये गये विषय पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है—

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशनान्न्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥"

रस-निष्पत्ति सत्त्वोद्रेक की चिद्‌भूमि में होती है, जब रज और तम का संस्कार हो जाता है। यह अखण्ड चिद्‌भूमि है इसीलिए चिन्मय है, स्वप्रकाशित है, वेद्य तो है पर स्पर्शशून्य है और है ब्रह्मास्वादसहोदर।

शल्य जी ने संस्कृति को मनस्तरीय सत्ता से सम्बन्धित कहा है, देहस्तरीय सत्ता से नहीं। तात्पर्य यह कि संस्कृति अंग्रेज़ी शब्द 'कल्चर' का पर्याय नहीं है जिसको बाह्य विशिष्टताओं तक ही सीमित किया जा चुका है। डॉ॰ प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने कहा है कि आज 'सभ्यता' एवं 'संस्कृति' दोनों शब्दों का जिस अर्थ में व्यवहार किया जा रहा है उस अर्थ में इसका प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं हुआ (**भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत : वेद**) ।

'चिद्-भूमि' की दृष्टि से संस्कृति पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति एक ओर संस्कार की चेतना है और दूसरी ओर चेतना का संस्कार। चेतना के संस्कार के कारण ही चिद्-भूमि का प्रश्न प्रासंगिक बनता है। इसी आधार पर शल्य जी ने यह निष्कर्ष निकाला है—"चित् के ये तीन स्तर—दैहिक, चैत्त और अतिचैत्त, मानना ही युक्तिसंगत है।" वस्तुतः ये चित्त के परिष्कार की तीन स्थितियाँ हैं। परिष्कार से चित् की सूक्ष्म शक्ति में वृद्धि होती है। साहित्य की रचना और संस्कृति के विकास से इसका गहरा सम्बन्ध है। साहित्य इसी रूप में और इसी स्तर पर संस्कृति के विकास में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करता है। शल्यजी ने "काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्" उक्ति को उद्धृत करते हुए टिप्पणी की है कि हमारे देश ने साहित्य और अन्य ललित कलाओं को काम और धर्म-मूलक अर्थों की विपुलता की सिद्धि के रूप में भजा है। यह टिप्पणी ज़रा जल्दीबाजी में की गयी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में डॉ॰ गोविन्दचन्द्र पाण्डे का कथन ही समीचीन प्रतीत होता है—"भारतीय कला-विश्व के विकास को दो चरणों में बाँटा जा सकता है, जिनको आर्ष और लौकिक कहना अनुपयुक्त न होगा। आर्ष चरण में साक्षात्कारमूलक तत्त्व और छंदप्रधान मंत्रात्मक देवाख्यानात्मक अथवा सनातन, या जातीय इतिहासात्मक निदर्शन विरचित मिलते हैं जो कि आध्यात्मिक-नैतिक साधना के संदर्भ में प्रामाणिक किन्तु व्याख्यापेक्ष ज्ञान सम्प्रेषित करते हैं।" (**साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति**) शल्य जी की टिप्पणी का सम्बन्ध वस्तुतः उससे प्रतीत होता है जिसे पाण्डे जी ने लौकिक चरण कहा है जिसमें "कल्पना, भाव, रूप, अलंकरण और रीति प्रधान हैं।"

शल्य जी की मान्यता है कि चिद् की तीन अवस्थाओं को विषय-विषयी सम्बन्ध के तीन रूपों में देखा जा सकता है। "इस सम्बन्ध का एक रूप वह है जिसमें विषयी विषयसात् रहता है, एक वह जिसमें विषयी विषय को अपने से निष्कृत कर उसके माध्यम से अर्थ-भुवनों की सृष्टि करता है, और तीसरा स्तर वह है जिसमें विषयी निष्कृत विषयों या अर्थ-भुवनों का उत्क्रमण कर अपने में अवस्थित होता है, अथवा कहें इन अर्थ-भवनों या विषयों को आत्मसमाहित कर अवस्थित होता है।" वस्तुतः यह पतंजलि के "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"—द्रष्टा के अपने रूप में होने की स्थिति है। इसीलिए **गीता** (8-3) ने स्वभाव को ही अध्यात्म कहा है।

तीसरी अवस्था, अतिचैत्त के सम्बन्ध में शल्य जी ने प्रश्न-चिह्न क्यों लगाया है? "तीसरी अवस्था कभी वास्तविकता में सिद्ध होती है या नहीं" ऐसी आशंका क्यों? डॉ॰

गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने निर्भ्रान्त शब्दों में लिखा है—"अपनी पिछली विषयी-चेतना या दूसरे की विषयी-चेतना को विषय बनाकर विवेकी-साक्षी की भूमिका से उसे देखने पर विषय-विषयी-सापेक्ष भाव का स्वरूप प्रकट होता है जिसमें अनुभूति की सघनता के अंदर आत्मबोध जागता है। यही स्थिति भाव की सार-प्रतीति, चैतन्य का उन्मीलन, या रस-बोध की स्थिति है। भाव की संस्कृति-सापेक्ष संरचना, उसके विभाव आदि की बदलती पहिचान इसमें केवल उपादान बनते हैं, बाधा नहीं।" भारतीय परंपरा में चारों पुरुषार्थों का वास्तविक लक्ष्य आत्मोपलब्धि ही रहा है। यहाँ इस पर विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है। जयदेव सिंह ने लिखा है—"भारत में दर्शन कभी भी बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं रहा। भारत के लिए दर्शन केवल चिंतन-सरणि नहीं है, अपितु जीवन-सरणि है।" **(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, उपोद्घात)**

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—

"वैराग्यसाधने मुक्ति, से आमार नय
असंख्य बंधन माझे महानंदमय
लभिव मुक्तिर स्वाद।"

और 'कामायनी' की अंतिम पंक्तियाँ हैं—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (बृहदा. उप. 3.4.1) "यह सारा ब्रह्म है" की जीवन-दृष्टि यहाँ वैदिककाल में ही विकसित हो चुकी थी। तुरीयावस्था के सम्बन्ध में **माण्डूक्योपनिषद्** में कहा गया है—"अद्वैत एव ओंकारः" (मंत्र, 12) यह स्थिति ही चिति की स्वतंत्रता है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—"चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः" (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—1) मोह के कारण मनुष्य अद्वैत की साधना से इसलिए घबराता है कि इससे उसकी शक्ति का क्षय होगा। पर सच्चाई यह है कि इससे उसे असीम शक्ति की प्राप्ति होती है।

भारतीय परंपरा में संस्कार को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। **मनुस्मृति** (2-1) में संस्कार को पवित्र करने वाला कहा गया है। विभिन्न स्थलों पर, सब मिलाकर, मनु ने सोलह संस्कारों का वर्णन किया है जिनका आरंभ गर्भाधान और अंत अंत्येष्टि में होता है। दूसरे श्लोक में उल्लिखित ये सब बाह्य संस्कार हैं। लेकिन तीसरे श्लोक में स्वाध्याय, व्रत, होम आदि उन संस्कारों का वर्णन किया गया है जिनसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इन संस्कारों को "ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" (2-3) इसलिए कहा गया है कि इनसे शरीर ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनने की क्षमता प्राप्त करता है। यदि मनु बाह्य और आंतरिक संस्कारों को परस्पर पूरक और अन्योन्याश्रित नहीं मानते तो दोनों की साथ-साथ चर्चा ही क्यों करते? चौथे श्लोक से तो वे पुनः बाह्य संस्कारों की ही चर्चा करने लगते हैं। इसी प्रकार से धर्म के जिन दस लक्षणों की चर्चा मनु ने की है वे बाह्य हैं या

आंतरिक? (मनुस्मृति, 6.92)। **बाह्य संस्कारों की सीमा को स्वीकार करने के कारण ही तो मनु ने "न शूद्रे पातकं किंचत्"** (10.126) **कहा है!**

भाषा, साहित्य और संस्कृति पर विचार करते समय नासदीय सूक्त का स्मरण होना स्वाभाविक है। यह सृष्टि की उस स्थिति का वर्णन है जब न सत् था, न असत्। उस समय कौन किसके आश्रित था, कहना कठिन है। ऐसे समय में ऋषि को "कवयो मनीषा" (10.129.4) का स्मरण क्यों आया? क्या वह मनीषी कवि ही है जो रहस्य को जानता है? नहीं, शायद वह भी नहीं जानता—"को अद्धा वेद"। इसका अधिष्ठाता भी इसे जानता है या नहीं, कहना कठिन है—"यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।" (10.129.7)। भाषा की सामर्थ्य की, वाणी की क्षमता की, यही चरम सीमा है। इसे प्राप्त करने के लिए जो साधना की जाती है उस पथ के श्रम का परिहार करने के क्रम में जिस साहित्य का सर्जन होता है वही साहित्य संस्कृति का विकासक होता है। इस सांस्कृतिक विकास में तथाकथित "सांस्कृतिक आदान-प्रदान" का योग सकारात्मक है या नकारात्मक, या मात्र एक प्रचलित रूढ़ि का भारवहन, इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

मानव-समाज पर आज जो विश्वव्यापी संकट गहराता जा रहा है उसकी समझ को स्पष्ट करने के लिए "साहित्य और संस्कृति" पर विचार प्रासंगिक है, पर इस पर साँगोपाँग विचार के लिए 'भाषा' की अनदेखी नहीं की जा सकती। भाषा की स्थिति "चिति का विराट् वपु मंगल" (कामायनी) जैसी है जो दोनों की जननी है। भारतीय परंपरा में इस प्रश्न पर इसी समग्र दृष्टि से विचार किया गया था। आग्डेन एवं रिचर्ड्स (**द मीनिंग ऑफ मीनिंग**, 1923) जेम्स डेरिडा (**ग्रामोटोलॉजी**) नोम चोम्स्की (**रिफ्लैक्शन्स् ऑन लैंग्वेज**) आदि पश्चिमी विचारकों का ध्यान भी अब इस ओर जाने लगा है। चिंता की बात यह है कि इन्हें इस विषय से सम्बन्धित भारत की समृद्ध परंपरा का पता नहीं है। संवादहीनता की स्थिति का यह भी एक प्रमाण है।

उन्मीलन गोष्ठी - 2
विषय - परतत्त्वों का ज्ञान

उन्मीलन गोष्ठी की यह बैठक प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पांडे की जयपुर में उपस्थिति का लाभ उठाने के प्रयोजन से आयोजित की गई थी। यह बैठक राजस्थान विश्वविद्यालय के अतिथि निवास में हुई। इसमें पांडे जी के अतिरिक्त निम्नलिखित ने भाग लिया—

प्रोफेसर दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. मुकुंद लाठ, डॉ. के. एल. शर्मा, डॉ. (श्रीमती) योगेश गुप्ता, डॉ. पी. के. श्रीवास्तव, श्री कमलनयन, तथा कार्यवाही-विवरण की प्रस्तुत लेखिका।

पांडे जी ने साधारण रूप से 'परोक्ष' कहे जाने वाले किन्तु अन्यथा अपरोक्ष पदार्थों, जैसे ईश्वर और आत्मा, के प्रामाण्य के स्वरूप से वार्ता का आरंभ किया और इसके लिए उदाहरण रूप में रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि इनके प्रामाण्य विषयक प्रश्न का एक उत्तर हो सकता है 'जो सत्य है वह ईश्वर ही है' अथवा कहें 'ईश्वर ही सत्य है और आत्मा उससे अभिन्न है' अथवा कहें 'वह आत्मा का परम रूप है।' परिणामतः ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण का प्रश्न सार्थक प्रश्न नहीं है, उसके स्वरूप का प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है। बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि "यदि जगत् को सत्य मानें तो ईश्वर की सत्यता समझ में नहीं आती। किन्तु यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्षगम्य के सन्देहास्पदत्व को हम समझ लें और जान लें कि दृश्यत्व और मिथ्यात्व एक ही बात हैं तो अगोचर पदार्थों के सत्यत्व की बात समझना वैसा कठिन नहीं रहता।" इस दृष्टि को पांडे जी ने भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा कि "पाश्चात्य चिन्तन-परंपरा में ईश्वर या आत्मा विषयक यह दृष्टि नहीं मिलती, यद्यपि बोसांके ने अवश्य यह कहा है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अथवा सहज स्पष्ट की प्रामाणिकता में सन्देहपरक युक्तियों से ही गंभीर दार्शनिक चिंतन का आरंभ संभव है। किन्तु बोसांके में भी बात यहीं तक ठहर गई है। आत्मा क्या है, इस प्रश्न पर चिन्तन नहीं हुआ है। भारतीय परंपरा में आध्यात्मिक की चर्चा करते हुए आगम तक जाते हैं। पश्चिम में अध्यात्म की धारणा इस प्रकार है कि इन्द्रिय तथा बुद्धि से अतीत विषय रेवेलेशन के विषय होते हैं, भारतीय परंपरा इन्हें अनुभूति द्वारा साक्षात्कार्य मानती है। पश्चिम में इस प्रकार की अवधारणा नहीं है।

इसके आगे श्रेयस् पर विचार करते हुए पांडे जी ने कहा कि इसका आधार धर्म ही हो सकता है, जो आस्था का विषय है, आचरण में सदसद् विषयक प्रश्नों का समाधान तर्क-बुद्धि के द्वारा संभव नहीं है।

पांडे जी की इस वार्ता पर चर्चा का आरंभ करते हुए शल्य जी ने प्रश्न किया कि दृश्यत्व को मिथ्यात्व का लक्षण कैसे कहा जा सकता है? कुछ पदार्थों की विद्यमानता

का प्रमाण दृश्यत्व से ही हो सकता है, जैसे दूसरे कुछ की विद्यमानता का प्रमाण अनुभूति से हो सकता है। इसलिए एक सामान्य स्थापना कि 'जो दृश्य है वह मिथ्या है' युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। डॉ. पी. के. श्रीवास्तव ने प्रश्न किया कि आगम का प्रामाण्य आगम के वचन के अर्थ-निर्णय की अपेक्षा करता है, जो निर्णय हम करते हैं। दूसरे, पांडे जी के प्रतिपादन में यह धारणा पूर्वगृहीत प्रतीत होती है कि आगम-वचनों में परस्पर विरोध नहीं हो सकता। यह पूर्वग्रह विचारणीय है। उत्तर में पांडे जी ने कहा कि आगम-वचन अभिधार्थक नहीं होते, उनका अर्थ लाक्षणिक और व्यंजनात्मक होता है और उसके ये अर्थ अनुभूतिगम्य होते हैं। इस पर डॉ. नन्दकिशोर जी ने प्रश्न उठाया कि आध्यात्मिक अनुभूतियों के अनेक प्रकार और अनेक स्तर होते हैं, सब प्रकार और स्तर समान रूप से अमिथ्या या सत्य नहीं होते। कई प्रकार और स्तर मिथ्या भी हो सकते हैं—होते हैं।

यहां डॉ. श्रीवास्तव ने प्रश्न उठाया कि आध्यात्मिक अनुभूति और कलात्मक अनुभूति में क्या सम्बन्ध और अन्तर है? इस पर शल्य जी ने कहा कि यह प्रश्न अवान्तर है, इस पर विचार करेंगे तो बात दिशान्तर में चली जायगी।

नंदकिशोर जी के प्रश्न का उत्तर देते हुए पांडे जी ने कहा कि सभी अनुभूतियाँ आध्यात्मिक साक्षात्कारात्मक नहीं होतीं। सत् क्या है यह बताना हो तो यह कहा जा सकता है कि सत् का विधान असत् की व्यावृत्ति के रूप में होता है। ब्रह्म संवेद्य नहीं है पर उसका ज्ञान-स्वरूप अज्ञान-व्यावृत्त या अज्ञान-व्यावर्तक नहीं है। ज्ञान-अज्ञान या आनंद-निरानंद ये द्वन्द्वात्मक संबंध हैं, ब्रह्म इनसे परे है, हालांकि उसे ज्ञान-स्वरूप या आनन्द-स्वरूप कहा जाता है।

इस पर शल्य जी ने कहा कि यों सामान्यतः तो यह ठीक है कि कोई अनुभूति और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति ठीक समान न हों किन्तु तब भी भाषा संकेत द्वारा अनुभूति की द्योतक होती है और विमर्श द्वारा उसके अर्थ की प्रकाशक और अवगाहक होती है। फिर यह तो भाषा के वैखरी स्तर की बात ही हुई, किन्तु इसके वैखरी स्तर का मध्यमा में और मध्यमा का पश्यन्ती में उन्नयन भी होता है। इस पर पांडे जी ने कहा कि वेद का मूल प्रणव है और वही ईश्वर का वाचक और प्रकाशक होता है। वाचक से अर्थ का स्फोट होता है। ब्रह्मपरक सभी वाक्य ब्रह्मपरक महावाक्य में स्वरूप-लाभ करते हैं। साक्षी रूप आत्मा ही ब्रह्म है।

आगे श्रद्धा के स्वरूप का विवेचन करते हुए पांडे जी ने कहा कि 'श्रद्धा' का अर्थ 'आस्था' नहीं है। श्रद्धा दृश्य को किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख रखना है।

यहां मुकुन्द जी ने प्रश्न उठाया कि वैज्ञानिक प्रमाण वह होता है जो बाधित हो सकता है जबकि पांडे जी की ज्ञान की परिभाषा के अनुसार ज्ञान का लक्षण अबाधितत्व है। शल्य जी ने कहा कि ब्रह्म को जो चैतन्यस्वरूप कहा जाता है उसमें चैतन्य चेतना गुण का वाचक नहीं है। दया जी ने दूसरा प्रश्न उठाते हुए कहा कि आत्मा यदि साक्षी है और उसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती तो उसे जड़ क्यों नहीं कहा जाय, वह चेतन नहीं

कहा जा सकता। फिर, मैं साक्षी भाव में स्थित हूँ, दूसरा उस भाव में स्थित नहीं है, ऐसा कोई भेद वेदान्ती कर ही नहीं सकता।

इस पर शल्य जी ने कहा कि आत्मा साक्षी है तो अन्तःकरण उसका विषय हो सकता है। इस पर श्रीवास्तव जी ने कहा कि वेदान्त के अनुसार साक्षी ज्ञाता नहीं होता। इस पर शल्य जी ने कहा कि साक्षित्व की अवधारणा वास्तव में सांख्य की है वेदान्त की नहीं। अब, साक्षी पुरुष यद्यपि प्राकृतिक अर्थ में ज्ञाता नहीं होता किन्तु तब भी प्रकृति, अथवा कहें जगत् अपनी शुद्ध प्राकृतिकता में उसका विषय होता है, जिसका वह पूर्णतः तटस्थ विषयी होता है। यही तटस्थ प्रेक्षक भाव बुद्धि में विवेक के रूप में प्रतिभासित होता है—ऐसा कहा जा सकता है।

इस विमर्श के क्रम में मुकुंद जी ने टिप्पणी की कि निर्वाणोन्मुख और तद्विमुख ज्ञानों में भेद करना चाहिए। इस विचार-क्रम में शल्य जी ने प्रश्न किया कि 'सर्वं क्षणिकम्' यह आर्य सत्य है किन्तु क्या यह सत्य स्वयं भी क्षणिक है? ऐसा स्पष्टतः नहीं हो सकता। इस पर पांडे जी ने उत्तर दिया कि क्षणिकता का सत्य ही धर्मता है और धर्मता क्षणिक नहीं होती।

सरला कल्ला

दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,

जयपुर

न्याय मंजरी (अनुवाद) गतांक से आगे
'प्रामाण्य' पद के अर्थ का विचार

अनुवादक—सिद्धेश्वर भट्ट तथा शशिप्रभा कुमार
दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

यदपि प्रमाणविशेषणमनधिगतार्थग्राहित्वमभिधीयते परैः — तदपि न सांप्रतम् — प्रमाणस्य गृहीततदितरविषयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात्॥

ननु गृहीत विषये प्रवृत्तं प्रमाणं किं कुर्यात्? अगृहीतेऽपि किं कुर्यात्? प्रमामिति चेत् गृहीतेऽपि तामेव विधत्ताम्। कृतायां करणायोगादिति चेत् — न — प्रमान्तर करणात्। प्रमान्तरकरणे किं फलमिति चेत् — प्रमान्तर करणमेव फलम्; न च फलस्य फलं मृग्यम्। न च प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणं भवति॥

और जो दूसरों (भाट्टों) के द्वारा प्रमाण के लक्षण में अनधिगत अर्थ के ग्रहण का विशेषण प्रयुक्त किया जाता है, वह भी समीचीन नहीं है क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति गृहीत और अगृहीत दोनों प्रकार के विषयों में होती है और उनके प्रामाण्य में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

यहाँ पूर्वपक्षी (भाट्ट) की ओर से शंका होती है कि पहले से ग्रहण किए गये विषय में प्रमाण का क्या प्रयोजन? इसपर यदि सिद्धान्ती का प्रतिप्रश्न हो कि अगृहीत विषय में भी प्रमाण का क्या प्रयोजन होता है? इस पर यदि (पूर्वपक्ष की ओर से) कहा जाये कि वह प्रमा को ग्रहण करता है, तो (हम सिद्धान्ती कहेंगे कि) गृहीतविषयक प्रमाण भी उसी प्रमा को ग्रहण करता है। यदि कहा जाये कि पहले से ग्रहण किये गये विषय के ग्रहण का कोई औचित्य नहीं है तो (हम कहेंगे कि) ऐसी आपत्ति ठीक नहीं क्योंकि वह (गृहीतविषयक प्रमाण) दूसरी प्रमा को उत्पन्न करता है। इस पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि दूसरी प्रमा को उत्पन्न करने से क्या फल मिलेगा तो इसका उत्तर होगा कि दूसरी प्रमा की उत्पत्ति ही उसका फल है और फल का फल तो ढूँढा नहीं जाता तथा प्रमाण फल का अनुगामी भी नहीं होता।

कस्य चैष पर्यनुयोगः? न प्रमाणस्य, अचेतनत्वात्। पुंसस्तु सन्निहिते विषये करणे च संभवन्ति ज्ञानानीति सोऽपि किमनुयोज्यताम्! किमक्षिणी निमील्य नास्से, कस्मात् दृष्टं विषयं पश्यसीति? प्रमाणस्य तु न किञ्चिद्बाधं पश्यामः, येन तदप्रमाणमिति व्यवस्थापयामः। न च सर्वात्मना वैफल्यं, हेये अहिकण्टकवृकमकरविषधरादौ विषये पुनः पुनरुपलभ्यमाने मनस्सन्तापात् सत्वरं तदपहानाय प्रवृत्तिः; उपादेयेऽपि चन्दनघनसारहारमहिलादौ परिदृश्यमाने प्रीत्यतिशयः स्वसंवेद्य एव भवति॥

फिर यह 'पर्यनुयोग' (दूषणार्थ बहस) किसका? 'प्रमाण' का तो हो नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन है। और 'प्रमाता' व्यक्ति के समीप तो विषय और करण उपस्थित होने पर ज्ञान होते हैं, इसलिए उसे भी क्यों बहस में लाया जाये? (क्या उससे यह कहा जाये कि) आँखें बन्द करके क्यों नहीं बैठ जाते, क्यों देखे गये विषय को देखते हो? (इस लिए हमारी तो यही व्यवस्था है कि) प्रमाण के विषय में कोई बाधा नहीं होती जिससे कि वह अप्रमाण बने और न ही वह (प्रमाण) पूरी तरह विफल होता है, क्योंकि काँटे, भेड़िया, मगरमच्छ, साँप आदि हेय विषयों के द्वारा बार-बार मनःसन्ताप उपलब्ध होने पर तुरन्त उनके त्याग हेतु प्रवृत्ति होती है। उपादेय विषयों में भी चन्दन, कपूर, हार और नारी आदि के दिखाई देने पर अत्यधिक अनुराग होता है जो सबके लिए स्वयं संवेद्य ही है।

धारावाही ज्ञानों का समानविषयकत्व

यच्चेदमुच्यते—

यत्रापि स्यात् परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः।
नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा॥

(श्लो. वा. 1.1.2. श्लो. 74)

इति तदपि न हृदयङ्गमम्। यतः —

नैवाधिकपरिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैर्ध्रुवम्।
धारावाहिकबोधेषु कोऽधिकोऽर्थः प्रकाशते॥

न हि स्वहस्ते शतकृत्वोऽपि परिदृश्यमाने केचन विशेषाः परिस्फुरन्ति॥

और जो यह कहा जाता है कि—

फिर जहाँ कहीं परवर्ती प्रमाणों के द्वारा निश्चय होता है, वहाँ भी (यही जानना चाहिए कि) पूर्व प्रमाणों के द्वारा वह विषय उस रूप में ग्रहण नहीं किया गया (अतः वह भी नवीन होने से अनधिगत ही है, यह भाव है।)

वह भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि —

निश्चय ही परवर्ती प्रमाणों के द्वारा अधिक (अगृहीतार्थ) का ग्रहण नहीं होता — (क्योंकि फिर तो यह प्रश्न होगा कि) धारावाहिक ज्ञानों में कौन सा अधिक विषय प्रकाशित होता है?

और न ही अपने हाथ को सौ बार देखने पर भी कोई नवीनता प्रकट होती है।

ननु गृहीतेऽपि विषये प्रवर्तमानं प्रमाणं कदा विरमेत्? न हि तस्य विरतौ कच्चिदवधिमधिगच्छामः प्रमोत्पादस्त्ववधिरनेन लङ्घित एव—उच्यते—विषयान्तरसम्पर्काद्वा श्रमाद्वा उपायसङ्क्षयाद्वा विरामो भविष्यति॥

अनवस्थापि चेयं न मूलघातिनी। न ह्युत्तरोत्तरविज्ञानोपजननं बिना प्रथमज्ञानोत्पादो विहन्यते॥

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।

मूलसिद्धौ त्वरुच्याऽपि नानवस्था निवार्यते॥

यदि चानुपलब्धार्थग्राहि मानमुपेयते।

तदयं प्रत्यभिज्ञायाः स्पष्ट एव जलाञ्जलिः॥

अब यदि प्रश्न हो कि पहले से गृहीत विषय में प्रवृत्त होता हुआ भी प्रमाण कब समाप्त होगा, क्योंकि उसकी समाप्ति में कोई सीमा तो समझ आती नहीं। प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाण की सीमा है और वह इस (गृहीतविषयक प्रमाण) द्वारा पहले ही लाँघ ली गई है—तो इसका उत्तर सिद्धान्तमत से यह दिया जाता है कि प्रमाण का विराम या समाप्ति तीन प्रकार से सम्भव है—

(क) किसी दूसरे विषय के सम्पर्क से, या

(ख) प्रमादवश, या

(ग) उपायों के नाश से

और यदि (यह विराम न भी हो) यहां अनवस्था हो, तो वह भी दोष नहीं, क्योंकि वह मूलज्ञान या प्रथमज्ञान को नष्ट करने वाली नहीं है। पूर्ववर्ती ज्ञान की उत्पत्ति परवर्ती (उत्तरोत्तर) ज्ञानों की उत्पत्ति के बिना नष्ट नहीं होती, अर्थात् परवर्ती ज्ञानों की उत्पत्ति न होने पर भी प्रथम ज्ञान नष्ट नहीं होता जैसा कि कहा गया है—

अनवस्था तभी दोष कही जाती है जब वह मूल को नष्ट करती है। अन्यथा मूल की सिद्धि अक्षत होने पर अनवस्था का निवारण नहीं किया जाता, भले ही वह अरुचिकर हो॥62॥

और यदि अगृहीतग्राही को ही प्रमाण माना जाये तब तो प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता स्पष्टतः त्याज्य ही होगी॥63॥

यश्चेदानीन्तनास्तित्वप्रमेयाधिक्यलिप्सया।

तस्याः प्रमाणतामाह सोऽपि वञ्चयतीव नः॥64॥

आविनाशक सद्भावात् अस्तित्वं पूर्वया धिया।

स्पष्टमेव, तथा चाह चिरस्थायीति गृह्यते॥65॥

तस्मादनुपलब्धार्थग्राहित्वे त्यज्यतां ग्रहः।

जो लोग इस आधार पर प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता को स्वीकार करते हैं कि उसमें वर्तमान अस्तित्व रखने वाले प्रमेयों का ग्रहण ही आधिक्य (अगृहीतग्राहित्व) है, वे भी हमें छलते हैं (क्योंकि केवल वर्तमानता आधिक्य नहीं होती)॥64॥

वस्तुतः जब तक बाधक या विनाशक कारण उपस्थित न हो तब तक पूर्ववर्ती ज्ञान के द्वारा गृहीत (वस्तु का प्रमेय के रूप में) अस्तित्व ही रहेगा, यह तो स्पष्ट ही है और (धारावाहिक ज्ञान के सन्दर्भ में) पहले बताया जा चुका है कि वह चिरस्थायी भी माना जा सकता है (जब तक उसका बाध न हो)॥65॥

इसलिए आप (भाट्ट मीमांसक) अगृहीतार्थ ग्राहित्व के विषय में (अगृहीत अर्थ को ग्रहण करनेवाला ही प्रमाण है) यह आग्रह छोड़ दीजिये।

नन्वेतस्मिन् परित्यक्ते प्रामाण्यं स्यात् स्मृतेरपि ॥66 ॥

न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।

अपि त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम् ॥67 ॥

पूर्वपक्ष की ओर से शंका होती है कि इस आग्रह को छोड़ देने पर तो स्मृति का भी प्रामाण्य हो जायेगा (सो न तो आपको अभीष्ट है, न ही हमें) ॥66 ॥

इस पर जयन्तभट्ट उत्तर देते हैं कि स्मति की अप्रमाणता गृहीतग्राहिता पर निर्भर नहीं है अपितु उसकी अप्रमाणता का कारण 'अनर्थजन्यता'[1] (उपस्थित अर्थ से उत्पन्न न होना) है ॥67 ॥

ननु कथमनर्थजा स्मृति? तदारूढस्य वस्तुतः तदानीमसत्त्वात्। कथं तर्हि भूतवृष्ट्यनुमानं नानर्थजम् : तत्र धर्मिणोऽनुमेयत्वात्, तस्य च ज्ञानजनकस्य तत्र भावात्। नद्याख्य एव धर्मी वृष्टिमदुपरितनदेशसंसर्गलक्षणेन धर्मेण तद्वाननुमीयते, विशिष्टसलिलपूरयोगित्वात्। स चानुमानग्राह्यो धर्मी विद्यत एवेति नानर्थजमनुमानम् ॥

अब यदि प्रश्न उठता है कि स्मृति की 'अनर्थजन्यता' क्या है? तो (सिद्धान्ती का उत्तर होगा कि) उस स्मृति द्वारा प्रस्तुत वस्तु को उस समय अनुपस्थित होना ही (अनर्थजन्यता है।) पुनः प्रश्न होता है कि तो फिर अतीत वृष्टि का अनुमान अनर्थजन्य क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वहाँ धर्मी ही अनुमेय होता है और उस धर्मी के साथ उसका ज्ञानजनक धर्म वहाँ मौजूद होता है, इसलिए वह अनुमान अनर्थजन्य नहीं, अर्थजन्य है।

प्रस्तुत स्थल पर धर्मी है नदी और उसका धर्म है वर्षा से युक्त (नदी के) ऊपरी भाग के साथ संसर्ग (अर्थात् नदी के जल का वर्षा के जल से संसर्ग) ।इस धर्म हेतु या लिङ्ग से बढ़े हुए जल वाली नदीरूप धर्मी का अनुमान होता है। इस अनुमान के द्वारा ग्राह्य वह नदीरूप धर्मी तो वहाँ माजूद है ही, इसलिए अनुमान अनर्थजन्य नहीं है।

प्रातिभ ज्ञान की अर्थजन्यता का प्रतिपादन

कथं तर्हि प्रातिभं अनागतार्थग्रहि 'श्वो में भ्राताऽऽगन्ता इति प्रत्यक्षमर्थजमिष्यते भवद्भिः? तत्र देशान्तरे वर्तमानस्य भ्रातुः श्वोभाव्यागमनविशेषितस्यैव तथैव ग्रहणम्, तेन च रूपेण गृह्यमाणस्य सतस्तस्य ज्ञानजनकत्वमिति अर्थजमेव प्रातिभम्। स्मरणं तु निर्दग्धापित्रादिविषयमनपेक्षितार्थमेव जायमानं दृष्टमिति अन्यत्र देशान्तरस्थितार्थस्मरणे तदर्थसत्त्वमकारणमेव ॥

पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति होती है कि तो फिर 'कल मेरे भैया आयेंगे' ऐसे अनागत विषय के ग्रहण कराने वाले प्रातिभ ज्ञान को आप लोग प्रत्यक्ष अर्थजन्य कैसे मानते हैं? इसपर सिद्धान्तपक्ष का समाधान देते हुए जयन्तभट्ट कहते हैं कि उक्त दृष्टान्त में दूसरे देश में विद्यमान भाई का जो आगमन कल (आनेवाला) होगा, उसका उसी अनागत रूप में

ग्रहण होता है और उसी रूप में ग्रहण किये जानेवाले उस विषयरूप भ्राता के द्वारा वह ज्ञान उत्पन्न कराया जाता है, इसलिए प्रातिभ ज्ञान (अनर्थज नहीं) अर्थज ही है।

किन्तु स्मृति तो भस्मीभूत हो चुके पितरों आदि के विषय में अर्थ की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होती देखी जाती है और दूसरे देश में स्थित अर्थ का भी स्मरण होता है, इसलिए स्मृति में अर्थ का अस्तित्व ज्ञान का जनक नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि प्रामाण्य की अर्थ प्राप्त कराने की सामर्थ्य है। लोक-व्यवहार में भी प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने वाले के लिए 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग होता है।

और वह प्रापकता (प्राप्त कराने की सामर्थ्य) प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में ही है, इसलिए यही प्रमाण का सामान्य लक्षण है।

तत्र प्रत्यक्षस्य वस्तुस्वलक्षणविषयत्वात् तस्य च क्षणिकत्वेन प्राप्त्यसम्भवेऽपि तत्सन्तानप्राप्तेः सन्तानाध्यवसायजननमेव प्रापकत्वम्। अनुमानस्य त्वारोपितार्थविषयत्वेऽपि मूलभूतवस्तुक्षणपारम्पर्यप्रभवत्वात् मणिप्रभामणिबुद्धिवत् तत्प्राप्त्या प्रापकत्वम्। तदिदमध्यवसितप्रापकत्वं प्रामाण्यं अध्यवसितस्यावस्तुत्वेऽपि तन्मूलवस्तुप्राप्त्या निर्वहति यथाऽध्यवसित प्रापकं च प्रमाणमिति मतम्। अतश्च पीतशङ्खादिग्राहिणां शङ्खादिमात्रप्राप्तौ सत्यामपि न प्रामाण्यम्, यथाऽध्यवसितस्याप्राप्तेः। अवगतो हि पीतश्शङ्खः, प्राप्यते च श्वेत इति। तस्माद्यथाऽवगतार्थप्रापकत्वं—अविसंवादकत्वं प्रामाण्यमिति॥

उनमें से प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षणरूप वस्तु होती है और क्षणिक होने से उसकी प्राप्ति असम्भव होने पर भी उसकी सन्तान[2] की तो अध्यवसाय रूप में प्राप्ति होती है, अतः सन्तान का सम्यक् ज्ञान ही प्रापकता है और अनुमान में विषयवस्तु भले ही आरोपित होती है (स्वलक्षण न होकर विकल्परूप सामान्यलक्षण होने से), किन्तु स्वलक्षणरूप मूलभूत वस्तु की क्षण-परम्परा से उत्पन्न होने के कारण उसकी प्रापकता मानी जाती है। जैसे मणि की प्रभा (चमक) से मणि का ज्ञान होता है और उससे (प्रणिप्रभा के ज्ञान से ही मणिप्रभा के प्रभवस्थान से) मणि की प्राप्ति होती है, वैसे ही अनुमान से भी अध्यवसित विषय अवस्तु रूप होते हुए भी अध्यवसित विषय के मूल में परम्परा से रहनेवाली वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति कराने के कारण अनुमितिज्ञान में प्रापकत्वरूप प्रामाण्य होता है, क्योंकि अध्यवसित विषय के अनुरूप वस्तु की प्रापकता ही प्रमाण कही गई है। और इसीलिए 'पीले शंख' आदि का ग्रहण कराने वाले ज्ञान में केवल शंख (जो पीला नहीं है) की प्राप्ति होने पर प्रामाण्य नहीं माना जाता। क्योंकि यहाँ जाना तो गया है पीला शंख किन्तु प्राप्ति श्वेत शंख की होती है। इसलिए वस्तु का यथार्थ बोध और प्रापकता ही अविसंवादकत्व है और वही प्रामाण्य[3] है।

उक्त मत का निराकरण

तदेतदनुपपन्नम् — इदमेव तावद्भवान् व्याचष्टान्! किं प्रदर्शितप्रापकं प्रमाणम्? उताध्यवसितप्रापकम्?

तत्रानुमाने प्रदर्शनमेव नास्ति, का कथा तत्प्रापणस्य प्रत्यक्षे तु बाढे प्रदर्शनमस्ति, न तु प्रदर्शितं प्राप्यते : क्षणिकत्वेनातिक्रान्तत्वात् ॥

अध्यवसित प्रापकत्वमपि दुर्घटम्। अध्यवसायस्य भवन्मते वस्तुविषयत्वाभावात् अवस्तुनश्च प्राप्तुमशक्यत्वात्। तदुक्तं भवद्भि — "यथाऽध्यवसायमतत्त्वत्वात्, यथातत्त्वं चानध्यवसायात्" इति ॥

मूलभूतवस्तुप्राप्तिस्तु काकतालीयम् न तु तदन्यतरेणापि प्रमाणेनापि स्पृष्टम्, यद्गत्वा प्राप्यते ॥

यह मत असंगत है, क्योंकि पहले तो आप यही बतायें कि प्रमाण प्रदर्शित वस्तु का प्रापक है या अध्यवसित विषय का? अनुमान में प्रदर्शन ही नहीं होता, फिर प्रापकता की तो बात ही कहाँ उठती है? प्रत्यक्ष में प्रदर्शन तो अवश्य होता है किन्तु प्रदर्शित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि क्षणिकत्व के कारण प्राप्तिकाल में वह वस्तु तो रहती ही नहीं।

प्रमाण के द्वारा अध्यवसित वस्तु की प्राप्ति कराई जाती है, यह मानना भी कठिन है क्योंकि आपके (पूर्वपक्षी बौद्ध के) मत में अध्यवसाय वस्तुविषयक नहीं है (अवस्तुविषयक है) और 'अवस्तु' की प्राप्ति तो असंभव है जैसा कि आपने स्वयं कहा है—"जैसा अध्यवसाय होता है, वैसा तत्त्व नहीं होता और जैसा तत्त्व होता है, वैसा अध्यवसाय नहीं होता।"

मूलभूत वस्तु की प्राप्ति तो काकतालीय न्याय[4] से (संयोगवश) होती है, वह तो दोनों (प्रत्यक्ष और अनुमान, बौद्ध द्वारा स्वीकृत प्रमाणद्वय) में से किसी भी एक प्रमाण से भी स्पृष्ट नहीं है कि जिसकी जाकर प्राप्ति की जा सके।

सन्तानप्राप्त्या तत्प्राप्तिरित्यपि न युक्तम् — सन्तानस्य भेदाभेद विकल्पाभ्यामनुपपन्नत्वात्। एतश्च सविस्तरं क्षणभङ्गभङ्गेनिरूपयिष्यते ॥

उस वस्तु की प्राप्ति 'संतान'-[5]प्राप्ति के द्वारा ही हो जाती है (बाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक बौद्ध का) यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सन्तान की व्यख्या तो भेद या अभेद इन दोनों विकल्पों के द्वारा नहीं हो सकती। इस विषय का विस्तारपूर्वक निरूपण क्षणभंगवाद के खण्डन प्रकरण में किया जायेगा।

ननु काल्पनिकेऽपि सन्ताने सति संवृत्त्या प्रमाणलक्षणमिदं निर्वक्ष्यते: यथोक्तं—साँव्यवहारिकस्यैतत्प्रमाणस्य लक्षणम्, वस्तुतस्त्वनाद्यविद्यावासनाऽऽरोपित-ग्राह्यग्राहकादिभेदप्रपञ्चं ज्ञानमात्रमेवेदमिति किं प्राप्यते? को वा प्रापयति' — इति ॥

प्रत्युत्तर में बौद्ध पूर्वपक्षी की ओर से कहा जाता है कि सन्तान के काल्पनिक होने पर भी साँवृतिक दृष्टि से यहाँ प्रमाण का लक्षण लागू हो जायेगा जैसा कि (हमने अन्यत्र) कहा है— प्रमाण का यह लक्षण साँव्यवहारिक दृष्टि से है, परमार्थतः तो ग्राह्य ग्राहक आदि भेदों का प्रपञ्च अनादि अविद्या की वासना से आरोपित ज्ञानमात्र ही है (उससे भिन्न नहीं है)। इसलिए क्या प्राप्त किया जाता है और कौन प्राप्त करता है? (ये सब भेद संवृतिसत् ही हैं)।

सोऽयं पलायनप्रकार इव प्रस्तूयते—केयं संवृतिर्नाम? साऽपि सती, असती वेति विकल्प्यमाना नैव व्यवहारहेतुर्भवति॥ अविद्यावासनाकृतश्च न भेदव्यवहारः, किन्तु पारमार्थिक एवेति साध्ययिष्यते॥

'साँवृत' सन्तानकल्पनायाँ वा जात्यवयविप्रभृतयोऽपि साँवृताः किमिति नेष्यन्ते? वृत्तिविकल्पादिबाधकोपहतत्वादिति चेत्, सन्तानेऽपि समानः पन्था इति कदाशालम्वनमेतत्। तस्मादसम्भवि दर्शितप्रापकत्वमित्यलक्षणमेतत्॥

इस पर सिद्धान्तपक्ष की ओर से जयन्तभट्ट कहते हैं कि (बौद्ध पूर्वपक्षी का) यह प्रत्युत्तर तो पलायन का ही रूप प्रतीत होता है। भला यह (बताइये कि) संवृति[6] है क्या? वह भी या तो सत् होगी या असत् — और इन दोनों रूपों में विकल्पित की जाने पर वह व्यवहार का हेतु नहीं हो सकती।

और भेद का व्यवहार अविद्यावासनाकृत नहीं होता, अपितु वास्तविक ही होता है, यह आगे सिद्ध किया जायेगा।

फिर सन्तान को साँवृतिक मानने पर तो जाति और अवयवी आदि को भी आप साँवृत क्यों नहीं मान लेते? यदि आप कहते हैं कि वृत्ति, विकल्प आदि बाधकों से उपहत होने के कारण (जाति और अवयवी आदि को साँवृत नहीं माना जा सकता) — तो हमारा मत है कि फिर तो सन्तान के विषय में भी यही बात लागू होगी, इसलिए आपकी यह मान्यता तो ख्याली पुलाव की भाँति निराधार ही है। अतः 'दर्शितप्रापकता' असम्भव है और यह प्रमाण का लक्षण भी नहीं माना जा सकता।

अव्यापकं चेदं लक्षणम्। उपेक्षणीयविषयबोधस्याव्यभिचारादिविशेषणयोगेन लब्धप्रमाण-भावस्याप्यनेनासङ्ग्रहात्॥

पुनश्च, बौद्ध द्वारा प्रस्तुत प्रमाण का उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित भी है क्योंकि अपेक्षणीय विषय का ज्ञान अव्यभिचारादि विशेषणों से युक्त होने पर भी और प्रमाणभाव को प्राप्त होने पर भी इसमें संगृहीत नहीं हो सकता।

ननु कोऽयमुपेक्षणीयो नाम विषयः? स ह्युपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत्, स तर्हि हेय एव, अनुपादेयत्वादिति — नैतद्युक्तं उपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेनाप्रत्याख्येयत्वात्॥

> **हेयोपादेययोरस्ति दुःखप्रीतिनिमित्तता।**
> **यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र देहिनाम्॥**
> **यत्नसाध्यद्वयाभावात् उभयस्याप्यसाधनात्।**
> **ताभ्यां विसदृशं वस्तु स्वसंविदितमस्ति नः।**
> **उपादेये च विषये दृष्टे रागः प्रवर्तते।**
> **इतरत्र तु विद्वेषः, तत्रोभावपि दुर्लभौ॥**

यहाँ बौद्ध पूर्वपक्षी प्रश्न उठा सकता है कि यह उपेक्षणीय[7] विषय क्या है? उसका तर्क है कि यदि उपेक्षणीय होने के कारण ही उस विषय का ग्रहण नहीं किया जाता तो (हम कहेंगे कि) वह तो अनुपादेय होने के कारण हेय ही है, हेय से भिन्न नहीं।

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि उपेक्षणीय विषय स्वसंवेद्य होने से उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

हेय और उपादेय विषय क्रमशः दुःख और प्रीति के हेतु होते हैं, अतः जीवों द्वारा प्रयत्नपूर्वक विषयों का हान और उपादान किया जाता है।

प्रयत्न से साध्य इन दोनों (हेय और उपादेय) के अभाव वाली तथा इन दोनों से असाधित एक तीसरे प्रकार की विलक्षण वस्तु हम सबके लिए स्वतः अनुभूत होती है (वही उपेक्षणीय विषय है)।

उपादेय विषय को देखने पर उसमें राग उत्पन्न होता है और अनुपादेय विषय को देखने पर विद्वेष होता है — उस (उपेक्षणीय विषय) में ये दोनों ही अनुपलब्ध हैं अर्थात् उसमें न राग होता है, न ही द्वेष (इसलिए वह इन दोनों से विलक्षण उपेक्षणीय विषय है)।

यत्तु अनुपादेयत्वात् हेय एवेति—तदप्रयोजकम्। न ह्येवं भवति: यदेतन्नपुसकं स पुमान्, अस्त्रीत्वात् ; स्त्री वा नपुंसकं, अपुंस्त्वादिति। स्त्रीपुंभ्यामन्यदेव नपुंसकः तथोपालम्भात् एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थान्तरं, तथोपलम्भादिति॥

इसलिए जो (बौद्ध पूर्वपक्षी) यह कहते हैं कि अनुपादेय होने से विषय हेय ही होता है, यह (उनका) कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा नहीं होता कि —

जो नपुंसक है, वह पुरुष है,

क्योंकि वह स्त्री नहीं है

अथवा

स्त्री नपुंसक है

क्योंकि वह पुरुष नहीं है।

अपितु स्त्री और पुरुष इन दोनों से भिन्न रूप में उपलब्ध होने के कारण नपुंसक उनसे भिन्न ही होता है। इसी भाँति उपेक्षणीय विषय भी होता है क्योंकि वह हेय और उपादेय विषयों से भिन्न रूप में उपलब्ध होता है।

यदेतत् तृणपर्णादि चकास्ति पथि गच्छतः।
न धीश्छत्रादिवत् तत्र न च काकोदरादिवत्॥
तस्मादुपेक्षणीयज्ञानस्य तमप्रापयतोऽपि प्रामाण्यदर्शनात् न प्रापकत्वं तल्लक्षणम्॥

मार्ग में चलने पर व्यक्ति को जो तिनके, पत्ते आदि दिखाई देते हैं, उनमें न तो उसकी छाते आदि के समान उपादेयता की भावना होती है और न ही वे सर्प आदि के समान उसके लिए हेय होते हैं (वरन् उपेक्षणीय ही होते हैं, यह भाव है)।

इसलिए (यह सिद्ध हो जाता है कि) उपेक्षणीय विषय का ज्ञान उस व्यक्ति को कुछ प्राप्त नहीं कराता, फिर भी उसमें प्रामाण्य होता है, अतः 'प्रापकता' को प्रमाण का लक्षण नहीं माना जा सकता।

ननु यावान् 'प्रमाणस्य' व्यापारः प्रापणं प्रति।
तावान् उपेक्षणीयेऽपि विषये तेन साधितः॥

उक्तं हि—राज्ञामादेष्टत्वमेव हन्तृत्वं, प्रदर्शकत्वमेव शानस्य प्रापकत्वमिति—मैवम्—

एवं प्रदर्शकत्वं स्यात् केवलं तस्य लक्षणम्।

तच्च प्रचलदर्कांशुजलज्ञानेऽपि दृश्यते ॥

बौद्ध की ओर से प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि यहाँ (हमारे द्वारा दिया गया प्रमाण लक्षण अव्यापक नहीं है, क्योंकि अर्थप्रापकता का अभिप्राय अर्थ-प्रदर्शकता ही है और वह प्रदर्शनरूपी) प्रमाण का व्यापार जितना प्रापण के प्रति होता है उतना ही उपेक्षणीय विषय में भी उस प्रमाण के द्वारा साधित होता है। कहा भी गया है कि राजाओं द्वारा (वध के लिए) आदेश दिया जाना ही उन राजाओं का 'हन्तृत्व' (वध करने वाला होना) है, इसी भाँति प्रदर्शकता ही ज्ञान की प्रापकता है (और वही प्रमाण का लक्षण है)।

इस पर सिद्धान्ती नैयायिक का कथन है कि यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि—

यदि केवल प्रदर्शकता ही प्रमाण का लक्षण माना जायेगा तब तो वह प्रदर्शकता (रेत से टकराकर) प्रत्यावर्तित होती हुई सूर्य की किरणों से होने वाले जल के (भ्रान्त) ज्ञान में भी दिखाई देती है, (अतः मरुमरीचिका को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अप्रमाण है)।

ननु तत्र विपरीताध्यवसायजननादप्रामाण्यम्। दर्शनं हि मरीचिस्वलक्षणविषयमेव सलिलाध्यवसायं तु जनयदप्रमाणीभवति। तथा ह्येकमेव दर्शनं अनुकूलेतरविकल्पोपजनन तदनुत्पादभेदात् त्रिधा कथ्यते प्रमाणं, अप्रमाणं, प्रमाणं च न भवतीति। नीलज्ञानं हि नीलं प्रति प्रमाणम् नीलमिदमित्यनुकूलविकल्पोपजननात्। नीलाव्यतिरेकि क्षणकत्वमपि तेन गृहीतमेव। तत्र तु प्रमाणं न भवति, अनुकूलेतर विकल्पानुत्पादात्। स्थैर्ये तु तदप्रमाणं, विपरीताध्यवसाय कलुषितत्वादिति ॥

पुनः पूर्वपक्ष (बौद्ध) की ओर से तर्क दिया जाता है कि उक्त स्थल में विपरीत प्रतीति को उत्पन्न करने के कारण अप्रामाणिकता है क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष तो सूर्यकिरण रूपी स्वलक्षण का ही होता है। किन्तु पानी रूप प्रतीति को उत्पन्न करने के कारण वह अप्रमाण हो जाता है। एक ही ज्ञान अनुकूल एवं उससे भिन्न विकल्पों को उत्पन्न करने या न करने के कारण तीन प्रकार का कहा जाता है — प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाण न होना। जैसे नीले रंग का ज्ञान नीले विषय के प्रति प्रमाण है क्योंकि 'यह नीला है' इस प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करता है। नील वस्तु के साथ होने वाले क्षणिकत्व का बोध भी उसमें समाविष्ट ही होता है। किन्तु उस क्षणिकत्व के ग्रहण में वह (नीलज्ञान) प्रमाण नहीं है क्योंकि वह अनुकूल या उससे भिन्न विकल्प को उत्पन्न नहीं करता। उस वस्तु की स्थिरता के विषय में तो यह अप्रमाण है क्योंकि वह स्थिरता तो क्षणिकत्व की विपरीत प्रतीति से दूषित है।

यद्येवमस्मिन् प्रक्रमे सुतरामिदं प्रमाणलक्षणं दुस्स्थम्—सन्तानाध्यवसायः प्रापणं प्रति प्रमाणस्य व्यापार इति च वर्णितवानसि। अतश्च यथा मरीचिस्वलक्षणदर्शन-मुदकाध्यवसायजननादप्रमाणम्, एवं स्वलक्षणदर्शनअपि तद्विपरीतसन्तानाध्यवसाय-जननादप्रमाणीभवेदिति। सन्ताने च काल्पनिके व्यवसिते दृश्याभिमुखः किमिति प्रवर्तते?

इस पर नैयायिक पक्ष का कथन है कि यदि ऐसा मान लिया जाये तो इस प्रयास में आपका प्रमाणलक्षण सर्वथा निर्बल सिद्ध होगा क्योंकि आपने स्वयं पहले कहा है कि सन्तान की प्रतीति ही प्रापण है और वही प्रमाण का कार्य भी है (अर्थात् स्वलक्षण का प्रापण न होकर स्वलक्षण के सन्तान का ही प्रापण होता है और वही प्रमाण की प्रापकता है)। और इसीलिए जैसे सूर्यकिरण रूपी स्वलक्षण का दर्शन पानी रूपी प्रतीति को उत्पन्न करने से अप्रमाण हो जायेगा। यदि काल्पनिक सन्तान की प्रतीति हो रही है तो फिर दृश्य (स्वलक्षण) के प्रति प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

दृश्यविकल्प्यावर्थाविवेकीकृत्य प्रवर्तते यदि वा।
अविवेकात् प्राप्तिः स्यात् प्रमाणमपि दूरतस्तस्याः॥
तस्मान्न प्रापकं प्रमाणम्॥

और यदि आप (बौद्ध पूर्वपक्षी) कहें कि दृश्य स्वलक्षण और विकल्प सन्तान इन दोनों को एक मानकर पुरुष की प्रवृत्ति होती है तब तो यह प्राप्ति अविवेकवश माननी होगी अतः इसकी प्रमाणता दूरस्थित जाननी चाहिए (अर्थात् पहले स्वलक्षण का दर्शन होगा, फिर सन्तान की प्रतीति होगी, फिर स्वलक्षण और सन्तान के अभेद का ग्रहण होगा, उसके बाद प्रवृत्ति होगी और तत्पश्चात् प्राप्ति होगी—इस प्रकार प्रमाणरूप दर्शन और प्राप्तिरूप फल के बीच बहुत दूरी हो जायेगी, यह भाव है)।

इसलिए प्रापकता को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

अपि च प्राप्त्यप्राप्ती पुरुषेच्छा मात्रहेतुके भवतः।
अर्थप्रतीतिरेव प्रमाणकार्याऽवधार्यते तस्मात्॥
मानस्य लक्षणमतः कथयद्‌भिस्तद्विशेषणं वाच्यम्।
न पुनः प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं कथयितुं युक्तम्॥

इसके अतिरिक्त विषय की प्राप्ति और अप्राप्ति का हेतु केवल पुरुष की इच्छा ही होती है। इसलिए अर्थप्रतीति ही प्रमाण का कार्य माना जाता है।

अतः प्रमाण का लक्षण कहने वालों को उस प्रमाण का विशेषण बताना चाहिए, न कि प्रापणशक्ति का प्रामाण्य कहना चाहिए। इस भाँति (यह सिद्ध हो जाता है कि) प्रापणशक्ति को प्रामाण्य कहना उचित नहीं है (क्योंकि प्रमाण अर्थप्रतीतिजनक होता है, अर्थप्रापक नहीं)।

साँख्यसम्मत प्रमाण-लक्षण

साङ्ख्यास्तु—बुद्धिवृत्तिः प्रमाणं इति प्रतिपन्नाः। विषयाकारपरिणतेन्द्रियादिवृत्त्यनुपातिनी बुद्धिवृत्तिरेव पुरुषमुपरञ्जयन्ती प्रमाणम्। तदुपरक्तो हि पुरुषः प्रतिनियतविषयद्रष्टा संपद्यते॥

साँख्य दार्शनिक तो बुद्धि की वृत्ति को ही प्रमाण मानते हैं। (उनका मत है कि) विषयाकार में परिणत होने पर इन्द्रियादि की वृत्ति का अनुसरण करने वाली बुद्धि की वृत्ति ही पुरुष को उपरक्त (प्रभावित) करती है। उस बुद्धि की वृत्ति से उपरक्त पुरुष पृथक् पृथक् विषयों का द्रष्टा बन जाता है।[8]

साँख्य-मत का निराकरण

तदेतदहृदयङ्गमम्—यो हि जानाति, बुध्यते, अध्यवस्यति, न तस्य तत्फलमर्थदर्शनं, अचेतनत्वान्महतः। यस्य चार्थदर्शनं न स जानाति, न बुध्यते, नाध्यवस्यति, इति भिन्नाधिकरणत्वं प्रमाण फलयोः। ज्ञानादिधर्मयोगः प्रमाणं पुंसि न विद्यते, तत्फलमर्थदर्शनं बुद्धौ नास्तीति॥

तो यह (उक्त) मत (भी) अस्वीकार्य है क्योंकि जो जानता है, समझता है और जिसे बोध होता है, उस (बुद्धि) को इन क्रियाओं का फल यानि अर्थदर्शन नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वह महत् (यानि बुद्धि) तो अचेतन है। और जिस (पुरुष) को अर्थदर्शन होता है, वह न जानता है, न समझता है और न प्रतीति करता है — इस भाँति प्रमाण और फल के अधिकरण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं (क्योंकि प्रमाण का अधिकरण महत् या बुद्धि है और फल का अधिकरण पुरुष है)। ज्ञानादि धर्मों का सम्बन्ध प्रमाण है और वह पुरुष में नहीं होता तथा उस प्रमाण का अर्थदर्शनरूपी फल बुद्धि में नहीं होता।

अथ स्वच्छतया पुंसो बुद्धिवृत्त्यनुपातिता।
बुद्धेर्वा चेतनाकारसंस्पर्श इव लक्ष्यते॥
एवं सति स्ववाचैव मिथ्यात्वं कथितं भवेत्।
चिद्धर्मो हि मृषा बुद्धौ, बुद्धिधर्मश्चितौ मृषा॥
साकारज्ञान वादाच्च नातीवैष विशिष्यते।
त्वत्पक्ष इत्यतोऽमुष्य तन्निषेधान्निषेधनम्॥
निरसिष्यते च सकलः कपिलमुनिप्रक्रियाप्रपञ्चोऽयम्।
तस्मान्न तन्मतेऽपि प्रमाणमवकल्पते किञ्चित्॥

और यदि स्वच्छता के कारण पुरुष में बुद्धिवृत्ति की अनुपातिता[7] सी प्रतीत होती है एवं उस तदाकाराकारित बुद्धि में चैतन्य का संस्पर्श सा प्रतीत होता है। तो ऐसा मानने पर आप (पूर्वपक्षी साँख्य) अपने कथन में स्वयं ही मिथ्यात्व का समावेश कर रहे हैं (अर्थात् अपने मत को स्वयं ही मिथ्या बना रहे हैं) क्योंकि बुद्धि में चैतन्य धर्म (का भान) मिथ्या है और चेतन पुरुष में बुद्धि का धर्म (विषयवृत्ति का भान) मिथ्या है।

पुनश्च, आपका यह मत (बौद्धों के) साकार ज्ञानवाद से भिन्न नहीं है और उस मत का खण्डन तो पहले ही किया जा चुका है, अतः उसी से आपके इस मत का भी खण्डन समझना चाहिए।

और आगे भी कपिल मुनि के द्वारा कल्पित सिद्धान्तों का यह प्रपञ्च निराकृत किया जायेगा, इसलिए (यह तो सिद्ध हो जाता है कि) उस मत में भी प्रमाण का स्वरूप संगत नहीं बैठता।

तीर्थान्तराभिहितरूपमतः प्रमाणं
नैवापवादरहितं प्रतितर्कयामः।
तेनामलप्रमितिसाधनमिन्द्रियादि
साकल्यमेव निरवद्यमुशन्ति मानम्॥

इसलिए दूसरे शास्त्रों में प्रतिपादित प्रमाण के स्वरूप को हम निरपवाद (निर्दोष) नहीं मानते हैं और शुद्ध प्रमिति के साधन इन्द्रियादि (करण) की सफलता को ही प्रमाण का निर्दोष लक्षण स्वीकार करते हैं।

प्रमाण-विभाग

तच्चतुर्विधं प्रमाणम्। तदाह सूत्रकारः

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणनि॥

इह हि भेदवतः प्रथमं सूत्रोद्दिष्टस्य त्रयं वक्तव्यं-सामान्य लक्षणं, विभागः, विशेषलक्षणं च। तत्र विशेषलक्षणप्रतिपादकानि चत्वारि सूत्राणि भविष्यन्ति–'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादीनि। इह तु विभागसामान्यलक्षणे प्रतिपाद्येते॥

एकेनानेन सूत्रेण द्वय चाह महामुनिः।

प्रमाणेषु चतुस्सङ्ख्यं तथा सामान्यलक्षणम्॥

प्रमाणेयत्तानिर्णयः

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दसन्निधाने प्रमाणश्रुतिरुच्चरन्ती चत्वार्येव प्रमाणानीति दर्शयति।

ये प्रमाण चार प्रकार के हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण हैं।

यहाँ उक्त सूत्र में वर्णित चतुर्विध प्रमाणों के विषय में पहले तीन तथ्य वक्तव्य हैं—सामान्य लक्षण, विभाग और विशेष लक्षण। इनमें से विशेष लक्षण का प्रतिपादन करने वाले चार सूत्र 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि आगे आयेंगे। यहाँ तो विभाग और सामान्य लक्षण इन दोनों का ही निरूपण किया जा रहा है।

और महामुनि गौतम ने इस एक सूत्र से दो बातों का निर्देश किया है—(i) प्रमाणों के चार भेद और (ii) उनका सामान्य लक्षण।

प्रमाणों की इयत्ता का निर्णय

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों का एक सा वर्णन करती हुई प्रमाणनिर्देशपरक श्रुति (उक्त सूत्र) 'चार ही प्रमाण हैं' ऐसा बताती है।

ननु न 'चत्वारि प्रमाणानि' इति सङ्ख्यावाचनः शब्दः श्रूयते; नापि प्रत्यक्षादीन्येवेत्यवधारणश्रुतिरस्ति। तत्कुत इयत्तनियमावगमः?

शब्दशक्ति स्वभावादिति ब्रूमः। गर्गान् भोजय, यज्ञदत्तदेवदत्तावानय इति विना सङ्ख्या शब्दमेवकारं च भवत्येव द्वित्वादिनियमावगमः। एवमिहापि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि इत्युक्ते सामर्थ्यात् न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदोऽवधार्यते—इत्येवं तावत् विभागावगमः॥

यहाँ शंका हो सकती है कि उक्त सूत्र में चार प्रमाण हैं। ऐसा संख्यानिर्देशपरक शब्द नहीं है और न प्रत्यक्षादि ही प्रमाण हैं, ऐसी निश्चयात्मक श्रुति उपलब्ध है। तो फिर चार ही प्रमाण हैं ऐसा सीमा-निर्धारण कैसे ज्ञात हुआ?

इसके उत्तर में हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि यह तो शब्दशक्ति का स्वभाव है (उसी से उक्त सीमा का बोध होता है।) जैसे गर्गों को भोजन कराओ, यज्ञदत्त और देवदत्त को ले जाओ, आदि में संख्यावाचक शब्द के बिना और 'एव' के बिना ही द्वित्व आदि का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। इसी भाँति यहाँ भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, ऐसा कहने पर (शब्दों के) सामर्थ्य से न्यूनाधिक संख्या के विनिश्चय का निर्धारण हो जाता है—तो इस प्रकार (प्रमाणों के) विभाग की सीमा का ज्ञान होता है।

सामान्यलक्षणन्तु प्रमाणपदादेव समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यसहितादवगम्यते॥

प्रमीयते येन तत् प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमित्यवगम्यते। तच्च प्रागेव दर्शितम्॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' इति च मध्ये साध्यसाधनग्रहणमुपाददानः सूत्रकारः सर्वप्रमाणसाधारणं रूपमिदं परिभाषते—यत्साध्यसाधनस्य प्रमाकरणस्य प्रमाणत्वमिति॥

प्रमाण का सामान्य लक्षण तो प्रमाण पद से ही उसके नाम की निर्वचन शक्ति के द्वारा बोधित हो जाता है।

जिसके द्वारा (वस्तु की) प्रमिति होती है, वही प्रमाण है—ऐसे करण (साधकतम कारण) अर्थ को बोधित करने वाले प्रमाण शब्द से, 'प्रमा का करण प्रमाण है' यह ज्ञात हो जता है और वह पहले ही बताया जा चुका है।

प्रसिद्ध यानि ज्ञात साधर्म्य के आधार पर साध्य का साधन होना उपमान है—इस कथन के बीच में साध्य साधन का ग्रहण करते हुए सूत्रकार ने सब प्रमाणों के साधारण रूप की परिभाषा दे दी है कि साध्य के साधन अर्थात् प्रमा के कारण को ही प्रमाण कहते हैं।

अशुद्धप्रमितिविधायिनस्तु प्रामाण्यं प्रसज्यत इति स्मृति संशय विपर्ययजनकव्यवच्छेदाय प्रत्यक्षसूत्रात् अर्थोत्पन्नमिति अव्यभिचारीति व्यवसायात्मकमिति च पदवयमाकृष्यते, तद्धि प्रमाणचतुष्टय साधारणम्। अर्थोत्पन्न पदेन फलविशेषणेनस्मृतिजनकम्, अव्यभिचारिपदेन विपर्ययाधायि, व्यवसायात्मकपदेन संशयजनकं प्रमाणं व्युदस्यते॥

अतश्चैवमुक्तं भवति—अर्थविषयमसन्दिग्धं अव्यभिचारि च ज्ञानं येन जन्यते तत् प्रमाणं—इत्येवमेकस्मादेव सूत्रात् सामान्यलक्षण विभागश्चावगम्यते॥

प्रामाण्य के उक्त स्वरूप की प्रसक्ति (अतिव्याप्ति) अयथार्थ ज्ञान की जनक कारण-सामग्री में होती है, अतः उस शंका का निराकरण करने के लिए एवं स्मृति, संशय और विपर्यय की कारण-सामग्री से उसे पृथक् करने के लिए यहाँ प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में से व्यवसायात्मक, अर्थोत्पन्न एवं अव्यभिचारि ये तीनों विशेषण लिए गए हैं, ये चारों प्रमाणों पर समान रूप से लागू होते हैं। इनमें से अर्थोत्पन्न इस फल (प्रमा) के विशेषण द्वारा स्मृति की उत्पादक सामग्री को प्रमाण पद से पृथक् किया गया है, 'अव्यभिचारि' पद के प्रयोग द्वारा विषय के जनक को प्रमाण से भिन्न बताया गया है तथा 'व्यवसायात्मक' पद से संशय के उत्पादक को प्रमाण से बहिष्कृत किया गया है।

इसलिए इसका यह अभिप्राय हुआ कि अर्थविषयक, असन्दिग्ध और अव्यभिचारि ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह प्रमाण है—इस भाँति एक ही सूत्र से सामान्य लक्षण और विभाग दोनों का बोध हो जाता है।

वाक्यभेद-दोष की आशंका

ननु ! एकस्य सूत्रस्य विभागसामान्यलक्षणपरत्वेन वाक्यभेदः अर्थैकत्वाच्चैकं वाक्ये युक्तम् ? उच्यते—

श्रुत्यर्थद्वारकानेकवस्तुसूचनशालिषु ।
सूत्रेष्वनेकार्थविधेः वाक्यभेदो न दूषणम् ॥
प्रमाणान्तरसंस्पर्शशून्ये शब्दैकगोचरे ।
प्रमेये वाक्यभेदादिदूषणं किल दूषणम् ।
अर्थद्वयविधानं हि तत्रैकस्य न युज्यते ॥

यहाँ शंका हो सकती है कि एक ही सूत्र में विभाग और सामान्य लक्षण दोनों के कहे जाने से वाक्यभेद (न होने का) दोष है। इसका समाधान यह है कि अर्थ के एक ही होने से एक वाक्य में कहा जाना ठीक है। (इसे और स्पष्ट करने के लिए) कहा जा रहा है—

श्रुति के अर्थ के प्रतिपादक और अनेक वस्तुओं की सूचना देने वाले सूत्रों में अनेक अर्थों का विधान होने से वाक्यभेद दोष नहीं है। दूसरे प्रमाणों के संसर्ग से रहित, केवल शब्द से गम्य प्रमेय के विषय में ही वाक्यभेद आदि दोष दोष होते हैं क्योंकि वहाँ एक विषय के द्वारा दो का विधान उचित नहीं होता।

'वाक्यभेद' दोष के अभाव का उपपादन

राजा स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यजेत इति गुणविधिपक्षे—स्वाराज्यं प्रति यागो विधातव्यः, यागं प्रति च वाजपेयगुणो विधातव्यः—इत्येकस्य वाक्यस्य परस्परविरुद्धविध्यनुवादादिरूपापत्तेः अर्थद्वयविधानमत्तिदुर्घटम् ॥

इह पुनः प्रमाणान्तरपरिनिश्चितार्थ सूचनचातुर्यमहार्घेषु सूत्रेषु नानार्थविधानं भूषण भवति, न दूषणम्। अनेकार्थसूचनादेव सूत्रमुच्यते। एतदेव सूत्रकाराणां परं कौशलं, यत् एकेनैव वाक्येन स्वल्पैरेवाक्षरैः अनेकवस्तुसमर्पणम्। अध्याहारेण वा तन्त्रेण वा आवृत्त्या वा तमर्थे प्रत्याययिष्यति सूत्रमिदमिति न दोषः ॥

'स्वराज्य की कामना वाला राजा वाजपेय यज्ञ करे' इस कथन में गुणविधि के मानने पर स्वराज्य के प्रति याग विधेय है और याग के प्रति वाजपेय गुणरूप में विधेय है—इस एक वाक्य की विधि और अनुवादरूपी परस्पर विरोधी अभिव्यक्ति की आपत्ति होने से दोनों अर्थों का विधान अतीव दुष्कर है।

किन्तु यहाँ (उक्त सूत्र में) तो दूसरे प्रमाणों द्वारा निश्चित विषयों की सूचना देने में समर्थ, बहुमूल्य (अत्यन्त उपयोगी) सूत्रों में अनेक विषयों का विधान भूषण ही होता है, दोष नहीं। अनेक विषयों की सूचना देने वाला होने के कारण ही तो 'सूत्र' कहा जाता है। यही तो सूत्रकारों की अत्यन्त कुशलता है कि वे एक ही वाक्य से, थोड़े ही अक्षरों के द्वारा अनेक वस्तुओं को व्यक्त करते हैं। (इसलिए) यह सूत्र **अध्याहार**[10] के द्वारा, तन्त्र[11] के द्वारा अथवा आवृत्ति [12] के द्वारा उन विषयों की प्रतीति कराता है, इसमें कोई दोष नहीं है।

विभाग और सामान्यलक्षण के कथन में पौर्वापर्य का नियम नहीं

विभागसामान्यलक्षणयोर्विधाने पौर्वापर्यनियमो विशेष लक्षणवन्नास्तीति तन्त्रेण युगपदुभयाभिधानमपि न विरुद्ध्यते। विशेषलक्षणं अनुक्ते सामान्य लक्षणे वक्तुमयुक्तमिति तत्रैष नियमः। सामान्यलक्षणविभागयोस्तु यथारुचि प्रतिपादनम्—आदौ विभागः, ततः सामान्यलक्षणम्—आदौ वा सामान्यलक्षणं, ततो विभागः।

सिद्धान्तच्छलवदुभयं वा युगपदेव प्रतिपाद्यते इति तन्त्रेण आवृत्त्या वा तदुपपादने न कश्चिद्दोष इति॥

विभाग और सामान्यलक्षण के कथन में विशेष लक्षण की भाँति कोई पौर्वापर्य का नियम लागू नहीं होता, अतः तन्त्र के माध्यम से दोनों के एक साथ कथन में भी कोई विरोध नहीं है। इस विषय में नियम यह है कि सामान्य लक्षण को बताये बिना विशेष लक्षण का कथन करना उचित नहीं, किन्तु सामान्य लक्षण और विभाग इन दोनों का विवेचन इच्छानुसार किया जा सकता है—पहले विभाग, फिर सामान्यलक्षण अथवा पहले सामान्यलक्षण और फिर विभाग। अथवा सिद्धान्त और छल की भाँति दोनों एक साथ प्रतिपादित किये जा सकते हैं (यह विषय आगे सिद्धान्त और छल के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर स्पष्ट होगा) इसलिए तन्त्र अथवा आवृत्ति द्वारा उसके विवेचन में कोई दोष नहीं है।

प्रमाणों की संख्या के विषय में विप्रतिपत्ति

आस्तां तावदिदं सूत्रे तन्त्रावृत्त्यादिचिन्तनम्।
चतुस्संङ्ख्या प्रमाणेषु ननु न क्षम्यते परैः॥

न्यूनाधिकसङ्ख्याप्रतिषेधेन हि चत्वारि प्रमाणानि प्रतिष्ठाप्येरन्— स च दुरुपपादः। तथा हि प्रत्यक्षमेवेकं प्रमाणमिति चार्वाकाः। प्रत्यक्षानुमाने द्वे एवेति बौद्धाः। प्रत्यक्षमनुमानमाप्त वचनं चेति त्रीणि प्रमाणानीति साङ्ख्याः। आधिक्यमपि प्रमाणानां मीमांसकप्रभृतयः प्रतिपन्नवन्तः तत्कथं चत्वार्येव प्रमाणानीति विभागनियमः?

यहाँ कहा जा सकता है कि (उक्त) सूत्र में तन्त्र, आवृत्ति आदि का विचार तो अभी रहने दो क्योंकि प्रतिपक्षियों को तो प्रमाणों को चार संख्या ही गले नहीं उतरती।

(पहले) कम या ज्यादा प्रमाणों की संख्या का निषेध करके चार ही प्रमाण हैं, यह सिद्ध किया जाना चाहिए, और वह बड़ा कठिन है। क्योंकि चार्वाक तो एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, साँख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। मीमांसक आदि प्रमाणों की अधिकता भी स्वीकार करते हैं। तो फिर चार ही प्रमाण हैं, यह विभाग-नियम कैसे देखा गया?

सिद्धान्तपक्षीय समाधानं

उच्यते—अनुमानप्रामाण्यं वर्णयन्तः बार्हस्पत्यं तावत् उपरिष्टात् प्रतिक्षेप्स्यामः। शब्दस्य चानुमानवैलक्षण्यं तल्लक्षणावसर एव वक्ष्यत इति शाक्यपथोऽपि न युक्तः।

(इस विषय में) कहा जा रहा है। अनुमान-प्रमाण का वर्णन करते समय हम बार्हस्पत्य (चार्वाक) मत का खण्डन आगे चलकर करेंगे। और शब्द प्रमाण की अनुमान से पृथक्ता उसके लक्षण के समय ही प्रतिपादित की जायेगी, इसलिए बौद्धमत भी संगत नहीं है।

सन्दर्भ

1. इसका आशय यह है कि स्मृति अर्थ से जन्य नहीं होती क्योंकि उसके द्वारा ग्राह्य विषय वर्तमान में उपस्थित नहीं होता।
2. बौद्ध मतानुसार वस्तु स्वलक्षणरूप होती है परन्तु वह नष्ट होने के पूर्व दूसरे स्वलक्षण को उत्पन्न करती है और वह दूसरा स्वलक्षण अगले क्षण नष्ट होते हुए तीसरे को जन्म देता है। इस भाँति स्वलक्षणों का एक क्रम या प्रवाह बन जाता है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'सन्तान' कहा गया है।
3. प्रामाण्य = अविसंवादकता = प्रापकता = यथार्थ बोध*
4. काकतालीय—काकतालीय दोष उसे कहते हैं जिसमें किसी आकस्मिक दशा को किसी कार्य का कारण मान लिया जाता है। जैसे डाली पर कौए के बैठते ही डाली के टूट जाने से कौए के बैठने को ही डाली टूटने का कारण मान लेना।
5. पीछे देखें टिप्पणी 'संतान'
6 संवृति—बौद्ध दर्शन के माध्यमिक एवं योगाचार सम्प्रदायों में सत्ता के प्रति दो प्रकार की दृष्टियाँ पाई जाती हैं—परमार्थसत् एवं संवृतिसत् के रूप में। तदनुसार वस्तुरूप स्वलक्षण परमार्थसत् है और उसका अध्यवसित रूप सामान्यलक्षण संवृतिसत् है।

7. उल्लेखनीय है कि बौद्ध विचारक दो ही प्रकार की वस्तुविषयक प्रवृत्तियाँ मानते हैं — हान और उपादान, जबकि नैयायिक एक तीसरी कोटि उपेक्षा की भी स्वीकार करते हैं।
8. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥—साँख्यकारिका, 20
9. जिस आकार में बुद्धि की वृत्ति परिणत होती है, पुरुष भी उसी आकार में परिणत होता प्रतीत होता है।
10. 'अश्रुतपदानामनुसन्धानम्' अर्थात् जो कहे या सुने नहीं गये हैं, उन पदों का अनुसन्धान एवं आहरण अध्याहार कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार 'घट ले जाओ' इस वाक्य को सुनने पर 'श्रोता तुम घट ले जाओ' इस भाँति अर्थ समझ लेता है तो यहाँ 'तुम' पद का अध्याहार किया गया है। अध्याहार दो प्रकार का होता है—शब्दाध्याहार और अर्थाध्याहार। उल्लेखनीय है कि नैयायिक शब्दाध्याहार को ही स्वीकार करते हैं जबकि मीमांसक अर्थाध्याहार को भी मानते हैं।
11. तन्त्र का तात्पर्य परस्पर सम्बद्ध अर्थ का उपदेश है। जो कहे गये और नहीं कहे गये विपुल अर्थों की उद्भावना कराता है—तनोति विपुलार्थानिति तन्त्रम्।
12. आवृत्ति का अर्थ है अपने स्थान पर स्थित या उच्चारित पद अथवा पदसमूह का पुनः पुनः अनुसन्धानः स्वस्थानस्थितस्य पदसमूहस्य वा पुन पुनरुसन्धानम्।

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तगत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 ८. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00